त-चरित-मालाका बारहवाँ पुष्प—

मूल्य पैंतालीस पैसे

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरितमालाका १२ वाँ पुष्प

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

निवेदन

यह भक्त-चरितमालाका बारहवाँ पुष्प है। इसमें दस भक्तोंकी बड़ी अच्छी उपदेशयुक्त और भक्ति बढ़ानेवाली कथाएँ हैं। ये सभी भक्त बड़े विश्वासी और श्रद्धासम्पन्न थे। आशा है, इन कथाओंसे पाठकोंको यथेष्ट लाभ होगा।

गीताप्रेस,
गोरखपुर

हनुमानप्रसाद पोद्दार

विषय-सूची

चित्र-सूची

भक्त गङ्गाधरदासका वैकुण्ठ-प्रयाण

श्रीहरिः

भक्त-सरोज

भक्त गङ्गाधरदास

उत्कल देश पुरुषोत्तमक्षेत्र अर्थात् जगदीशमें राजा प्रतापरुद्रके समयमें गोविन्दपुर ग्राम एक प्रधान तीर्थस्थल था। उसी गोविन्दपुरमें हमारे चरितनायक परमपूज्य भक्त श्रीगङ्गाधरदासजीका निवासस्थान था। उनकी स्त्रीका नाम था श्रियाजी। ये परम सती और साध्वी थीं, स्वामीको बहुत प्रिय थीं; पर इनके कोई सन्तान न थी। ये जातिके बनिये थे। सन्तान न होनेपर भी इनको कोई सोच न था। भक्त गङ्गाधरजी 'पसरा' बेचकर अर्थात् साधारण वाणिज्य-व्यापार करके जीविका निर्वाह करते हुए श्रियाजीसहित भगवद्भजनमें ही अपना जीवन बिताते रहे। संतसेवा करते हुए बहुत दिन बीत गये, वृद्धावस्था आ गयी।

एक दिनकी बात है कि ग्रामवासियोंके तानोंसे चित्त खिन्न हो जानेसे साध्वी स्त्रीने अपने पतिसे कहा कि 'जहाँ-तहाँ घर-बाहर गाँवकी स्त्रियाँ मुझे ताने मारा करती हैं और 'अंठकुडी' (अर्थात् जिसका मुँह न देखना चाहिये, मनहूस) कहा करती हैं। कोई-कोई तो मेरे सामने भी नहीं आतीं। कोई-कोई सामने भी यदि आ गयीं तो बोलतीं नहीं और कोई-कोई कह उठती हैं कि इसका मुँह देख लिया, आज न जाने क्या अमङ्गल होगा, इत्यादि-इत्यादि। पर हमारे भाग्यमें तो सन्तान है ही नहीं, चाह करनेपर भी कैसे मिल सकती है। हाँ, एक बात सम्भव है, वह यह कि आप किसी एक ब्राह्मणबालकका यज्ञोपवीत करा दीजिये, विवाह कर दीजिये अथवा किसी दरिद्रकुलका कोई लड़का मोल लेकर उसको पुत्र मानकर पालिये, उसीको गोद ले लीजिये।'

पत्नीके शोकभरे इन वचनोंको सुनकर गङ्गाधरजीने उसे ढाढ़स दिया और बोले कि हम निश्चय ही आज ही एक लड़का ले आवेंगे, तुम उसे पुत्रवत् पालन करना और यह कहते हुए कुछ रुपये लेकर वे वहाँको चले जहाँ अर्चाविग्रह निर्माण होते थे। कुछ धन देकर वे श्रीकृष्णजीकी सर्वलक्षणसम्पन्न एक प्रतिमा लेकर घर आये और प्रियाजीको वह विग्रह देकर कहा कि 'इसकी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा करती रहो, इससे इस लोकमें निर्वाह, लोकापवादसे मुक्ति और परलोकमें भवबन्धनसे मुक्ति मिलेगी। देखो, प्रिये! इन्हीं कृष्णसे यशोदामाईने पुत्रभाव रखकर अपना उद्धार कर लिया। ब्रह्मादि देवता भी इन्हींका भजन करते हैं, इन प्रभुको छोड़कर

जीवका उद्धार करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, तुम्हारी समस्त कामनाएँ पूर्ण करनेवाले ये श्रीकृष्ण हैं।'

पतिदेवकी आज्ञा मानकर श्रिया भगवान् श्रीकृष्णके अर्चाविग्रहका मार्जन-स्नान कराके उन्हें सिंहासनपर पधराकर उत्तम-उत्तम भोग लगाती है। वह मन-ही-मन विचार करके कि बहुत दिनपर हमें पुत्र मिला है, हम लोग इन्हें देखकर सुखपूर्वक रहेंगे और शरीरपात होनेपर इनकी कृपासे हमें मुक्ति भी मिल जायगी, सेवामें बहुत ही आनन्दित होती। जैसे माताको अपने छोटे बच्चेका लाड़-प्यार-दुलार अत्यन्त भाता है, वैसे ही इन अर्चाविग्रहरूप शिशुके दुलार-प्यार-सेवामें श्रियाका नित्य नया चाव बढ़ता ही जाता था। वह तेल-फुलेल-कुंकुम आदि लगाकर मंजन-स्नान कराती, कपूर-चन्दन लेपकर नाना प्रकारके अलङ्कारोंसे अपने प्रिय पुत्रको विभूषित करती, गरज कि माता जैसा लाडले शिशुकी सेवा करती है ठीक उसी प्रकार वह प्यारे शिशु कृष्णकी सेवा करती।

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालनें घालि झुलावै॥
प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥

ठीक यही दशा भक्तिमती श्रीश्रियाजीकी हो रही है। जो द्रव्य प्राप्त होता उसे पहले पुत्रको निवेदन करती, तब भक्त दम्पती भोजन करते। बिना अर्पित जलतक छूते न थे, पीनेकी कौन कहे। भक्त गङ्गाधरजीका भी वात्सल्य श्रियाजीसे किसी भाँति कम न था। कोई भी ऐसी वस्तु ग्राममें बिकने आती, जो बच्चोंको प्रिय लगती है

और जिसको बच्चे माँसे हठ करके लिया करते हैं, गङ्गाधर स्वयं ला-लाकर श्रीबालगोपालको भोग लगाते। हाटसे मीठे-मीठे पदार्थ तुरंत पुत्रके पास लाकर निवेदन करते। माता निरन्तर बच्चेको गोदमें रखती, एक क्षण भी अलग करना न चाहती। पुत्रके लिये रसोई बनानेके समय भी उसका चित्त पुत्रमें ही लगा रहता, क्षण-क्षणपर रसोई छोड़कर पुत्रको देखने चली आती और देखकर सुखी होती, फिर जाती, फिर आती; कभी-कभी आकर गोदमें जोरसे चिपटाकर कहती 'मैं बड़ी अभागिनी हूँ। तुझे अकेला छोड़कर चली जाती हूँ।' यह कहकर माता श्रीकृष्णका मुख चूम लेती, उनका सिर सूँघती। पुत्रस्नेह छोड़कर दम्पतीका सांसारिक पदार्थोंमें भूलकर भी चित्त न जाता था। पुत्रपर पिताका भाव मातासे अधिक था।

इस तरह वात्सल्यभावमें पगे हुए दम्पतीको बहुत काल बीत गया। एक दिन गङ्गाधरजीने स्त्रीसे कहा—'मैं हाट जाता हूँ, मेरे कृष्णकी देखभाल करती रहना, इसकी सेवा-सँभाल तेरे जिम्मे है। देख, एक क्षण भी इसे अकेला छोड़कर कहीं जाना नहीं'—ऐसा कहकर उन्होंने पुत्रसे भी किसी प्रकार वात्सल्यभरे स्नेहपगे वचन कहे और उसके चरणोंमें चित्त देकर वाणिज्यके लिये गये। थोड़े ही दिन बीते थे कि पुत्रवियोगमें उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल होने लगा, एक-एक क्षण कल्प-समान बीतने लगा, उसके वियोगसे चित्त अत्यन्त क्षुब्ध रहता। अतएव उन्होंने बहुत शीघ्रता की और कुछ अपूर्व फल, मिष्टान्न, पकान्न, जो गोविन्दपुरमें नहीं मिलते थे, लेकर घर लौट चले। पुत्रदर्शनकी लालसामें वृद्ध गङ्गाधर सुध-बुध खोये

उतावलीमें चले जा रहे हैं। मन-ही-मन अनेक मनोरथ उठ रहे हैं- —घर पहुँचकर पुत्रके दर्शन करूँगा, उसको यह-यह पदार्थ एक-एक करके निवेदन करूँगा, कभी गोदमें लेकर चुम्बन करूँगा, कभी उसपर सर्वस्व निछावर करूँगा, राई-नोन उतारूँगा, मिष्टान्न अपने हाथसे पवाऊँगा, बारंबार उसकी बलैया लूँगा इत्यादि। इस प्रकार वात्सल्यभावमें छके हुए रास्तेमें चले जा रहे थे कि ग्राममें प्रवेश करते ही एकाएक ठोकर लगनेसे पैर लड़खड़ाया और आप जमीनपर गिर पड़े तथा उसी क्षण शरीररूपी पिंजड़ेसे प्राणपखेरू उड़ गया। प्राण निकलते समय विरहाग्नि उनके हृदयमें धधक रही थी। सहसा उनके मुखसे यह वचन निकल पड़े—'हा बेटा कृष्ण! मैं तुझे देख न पाया। मैं बड़ा ही पापी हूँ।' कृष्ण-कृष्ण कहते हुए उनका शरीर छूट गया। ग्रामवासियोंने श्रीप्रियाजीको खबर दी। वह सती उस समय पुत्रके लिये भोजन बना रही थी। पतिका शोकसमाचार सुन भयभीत होकर शोकसे आतुर वह पुत्रके पास पहुँची और यों पुकार करने लगी —'अरे मेरे कृष्ण! अरे मेरे कृष्ण! तू तो अरक्षितका भाई है, दीनोंका मित्र है, वंशोधर है, जगतको मोहित करनेवाला है। अरे, तेरा पिता राहमें मर गया, मैं क्या करूँ। अरे पुत्र! तुझसे पूछती हूँ, तू मुझे बता, मैं क्या करूँ।' चक्रधर, विश्वम्भर, वैकुण्ठनिवास, अन्तर्यामी, सबके हृदयमें बसनेवाले, सबके जीकी जाननेवाले, भावके पहचाननेवाले, स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तके वशमें रहनेवाले भक्तवत्सल भगवान् माताके वचन सुनकर उनकी भक्तिके वश होकर उनके पुत्रभावको पूर्ण करनेके लिये कहने लगे—'माता! तुम निश्चिन्त रहो, क्यों चिन्ता

करती हो ? मेरे पिता मरे नहीं हैं। वे श्रान्त होकर पत्थरपर रास्तेमें सो गये हैं, तुम जाकर उनको उठाओ और कहो कि बच्चेको अकेला छोड़कर यहाँ क्यों पड़े हो ? चलो, ललुआ बुला रहा है।'

पुत्रके वचन सुनते ही वह पतिके पास गयी, देखा कि उनके शरीरमें प्राण नहीं है। पर क्या करती ? कृष्णकी आज्ञा थी, इसलिये उनके मस्तकपर हाथ रखकर कहने लगी—'प्राणनाथ ! मैं पुत्रको अकेला छोड़कर यहाँ चली आयी, मेरे साथ कोई नहीं है, अब तुरंत चलिये; देखिये, हमलोगोंकी तो पुत्रसेवा ही सर्वस्व है।' यह सुनते ही वह इस तरह उठकर बैठ गये जैसे कोई सोकर उठे। आँख मलते हुए उठ बैठे और पूछा 'बताओ, तुम यहाँ क्यों आयी ? अरे ! मेरा लाल कृष्ण कहाँ है, उसे अकेला कहाँ छोड़ आयी ? उसने सब हाल बता दिया। तुरंत ही दम्पती 'कृष्ण-कृष्ण' स्मरण करते हुए पुत्रके पास आये ! गङ्गाधरने सबसे पहले सब फल-मिष्टान्न पुत्रको निवेदन किये, पुत्रके दर्शन पा वह आनन्दमें फूले न समाते थे। उस निरतिशयानन्दमें दम्पती देहसुध भूलकर पुत्रको गोदमें ले-लेकर उसका मुख चूमने लगे। भक्त दम्पती एक-से-एक गोदमें लेते, बार-बार हृदयसे लगाते, प्यार करते, हृदयसे पृथक् न करते·······अब वे दोनों पुत्रकी पहलेसे कोटिगुण अधिक सेवा करने लगे। रात्रिमें जब शयनका समय आया, वात्सल्यमें विह्वल होकर भक्त गङ्गाधर कहने लगे—'ऐ मेरे लाल ! तेरा वियोग मुझसे सहा नहीं जाता। पेटकी ज्वाला ऐसी प्रबल है कि बिना उसको आहुति दिये काम नहीं चलता, भोजन बिना रहा नहीं जाता और

उसके कारण बाजार जाना और व्यापार करना ही पड़ता है। पिताके वचन सुनकर अन्तर्यामी भगवान् मुसकराकर कहने लगे—'पिताजी ! आप चिन्ता न करें, मुझ-सरीखे पुत्रके रहते आपको किसका भय है ! आपने जो कामना की है वह पूर्ण होगी। आपका घर धन-धान्यसे पूर्ण हो जायगा, इसमें किञ्चित् संशय नहीं।'

दिव्य स्वरूपसे साक्षात् प्रकट होकर इस प्रकार कहकर फिर भगवान् अन्तर्धान हो गये। घर धन-धान्यसे पूर्ण हो गया, पर भगवान् चले गये, सिंहासन खाली हो गया। सच कहा है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।

सिंहासन खाली देख दम्पतीके होश उड़ गये, वे पृथ्वीपर गिरकर अपनेको हतभाग्य मानकर बड़ा क्रन्दन करने लगे—उसी दशामें पड़े पुत्रका स्मरण कर-कर कहते हैं—'हाय, मेरे लोभके कारण कृष्णने हमारा त्याग किया। अरे मेरे लाल ! हम सब तो अज्ञानी हैं, हममें ज्ञान नहीं है, इसीसे मुझसे भूल हुई, पर प्यारे लाल ! तूने क्यों भूल की ? अच्छा गये थे तो भी हर्ज नहीं, पर हमें क्यों न साथ ले लिया। लाल ! तेरे वियोगमें यह पापी प्राण रहकर क्या करेगा……।' इस तरह करुणापूर्ण विलाप करते हुए और श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण कहते हुए गङ्गाधरने शरीर छोड़ दिया। सत्य प्रेमकी जय ! भक्त गङ्गाधरकी जय !

पतिने शरीर छोड़ दिया, यह देख प्रियाने उसके शरीरको गोदमें ले लिया और पुत्रका स्मरण करती हुई सोचने लगी कि मैं भी यह क्षणभङ्गुर देह रखकर क्या करूँगी ? सतीधर्मका अनुकरण-

कर सवेरे ही सती हो जाऊँगी। सोचमें निमग्न रात बीती, सवेरा हुआ। उधर उसने सारा धन लुटा दिया, घरमें कुछ भी न रक्खा। फिर चिता बनाकर अग्नि लगाकर उसमें पतिको गोदमें लेकर प्रवेशकर कृष्ण-कृष्ण उच्चारण करती हुई सती हो गयी। श्रीलक्ष्मीजीसहित श्रीमन्नारायण भगवान् विमानपर उसी जगह आ पहुँचे, अग्निसे दम्पती निकलकर दिव्य शरीरसे उस विमानपर सवार हो वैकुण्ठको गये। लोगोंको केवल यह दीख पड़ा कि बिजलीका-सा प्रकाश आकाशमें छाया है। थोड़े ही क्षण बाद वह प्रकाश नेत्रोंके आगेसे गायब हो गया। सब एक स्वरसे 'धन्य-धन्य' कहकर चिल्ला उठे। धन्य! धन्य! धन्य! जय! जय! जय! भक्तमालकार कथा समाप्तकर कहते हैं 'विश्वास प्रधान है, बिना विश्वासके कोई फलीभूत नहीं होता। प्रार्थना है कि मेरे सिरपर संतोंकी चरणरज निरन्तर पड़ती रहे। प्रिय भ्रातृगण! साधु और भगवान् यही दोनों एकमात्र सखा मनुष्यके हैं, जब ये कृपा करते हैं तभी आकर प्राप्त होते हैं।'

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त श्रीनिवास आचार्य

श्रीगौराङ्गदेवके अनन्य भक्तोंमें श्रीनिवास आचार्य भी एक महाभक्त हो गये हैं। यही नहीं, इनका तो जन्म ही गौरभक्तिको लेकर हुआ था, जिन दिनों निमाई पण्डित अपनी विद्वत्ताके लिये सारे नवद्वीपमें पुज रहे थे, उन्हीं दिनों नवद्वीपसे सात-आठ मील दूर चाकन्दी (जि० बर्दवान) ग्राममें इनके पिता श्रीगङ्गाधर भट्टाचार्य भी साहित्य और व्याकरणके असाधारण पण्डित समझे जाते थे। कहा तो यह जाता है कि 'विद्या ददाति विनयम्' परन्तु व्यवहार प्रायः इसके विपरीत देखा जाता है। साथ ही बड़े-बड़े उदार पण्डित भी देखनेमें आते हैं। प्रसन्नताकी बात है, हमारे श्रीनिवासके पिता श्रीगङ्गाधर भट्टाचार्य भी ऐसे ही उदार पण्डित थे। जब कभी श्रीचैतन्यदेवकी गुणगरिमा उनके सुननेमें आती तो उसी समय गौराङ्गके प्रति उनके हृदयमें आदरभाव जाग्रत् हो उठता। उनकी इच्छा होती कि नवद्वीप पहुँचकर निमाई पण्डितके दर्शन करूँ; पर उनका यह विचार उनके शिष्योंको पसंद न आता। उनके गुरुदेव किसी पण्डितकी ख्याति सुनकर उसके दर्शनोंके लिये दौड़े जायँ इसमें उन्हें बड़ी हेठी मालूम पड़ती। इसलिये गङ्गाधरजी मन मारकर रह जाते; पर कोई मन मारकर कबतक रह सकता है? चैतन्यचरणोंमें उनकी प्रीति दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी। इतनेमें उन्हें संवाद मिला कि जबसे निमाई पण्डित गयासे लौटकर आये हैं, तबसे अपना सारा पाण्डित्य भुलाकर भगवत्प्रेममें मतवाले हो बैठे हैं और अपने प्रेमभरे श्रीहरि-कीर्तनके

द्वारा सारे नवद्वीपवासियोंको भी मतवाला बना रहे हैं। बस, अब तो गङ्गाधर पण्डित किसीके भी रोके न रुक सके और गौरदर्शनके लिये चल पड़े। रास्तेमें उन्हें पता चला कि महाप्रभु तो संन्यास ग्रहण करनेके अभिप्रायसे कटवामें श्रीकेशव भारतीके यहाँ गये हुए हैं। 'ओहो! ऐसे विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुष संन्यास लेने जा रहे हैं।' यह सोचकर उनके दिलका भक्तिभाव और भी उमड़ा और उन्होंने कटवाका रास्ता पकड़ लिया। वहाँ उन्होंने अपनी आँखों देखा कि अपनी वृद्धा माता और नवयौवना पत्नीको भगवान्‌के भरोसे छोड़ निमाई पण्डित श्रीकेशव भारतीसे संन्यासदीक्षा लेकर संसारत्यागी और भगवदनुरागी बन रहे हैं। हजारों आदमियोंकी भीड़ जमा है, जिनमेंसे अनेक कोमल-हृदय नर-नारी आँखोंसे आँसू ढाल रहे हैं। सारा दृश्य देखकर गङ्गाधर पण्डित भी अपने आपको न सँभाल सके। फूट-फूटकर रो पड़े और रोते-रोते अचेत हो गये। चेतना होनेपर भी उनका आवेग निःशेष नहीं हुआ। श्रीकेशव भारतीने निमाई पण्डितका संन्यासका नाम रक्खा श्रीकृष्ण चैतन्य। गङ्गाधर पण्डित मुखसे श्रीकृष्ण चैतन्य कहकर ढार मारकर रो पड़ते। अपनी ऐसी दशा लेकर वह चाकन्दी आये। गाँववाले उनके अंदर इस चैतन्यभक्तिको देखकर उन्हें चैतन्यदासके नामसे पुकारने लगे।

श्रीचैतन्यदासका विवाह तो बहुत पहले ही हो चुका था; पर अबतक उनके कोई सन्तान नहीं हुई थी। उन्हें इसकी कोई चिन्ता भी न थी। उनकी पत्नी लक्ष्मीप्रियाकी अवस्था भी ढल चुकी थी। परन्तु भगवान्‌की लीला विचित्र है। एक दिन अकस्मात् उनके हृदयमें पुत्रदर्शनकी लालसा हो आयी। चैतन्यदेवके आशीर्वादपर

उनका बड़ा भारी विश्वास था। इसलिये पत्नीसहित उन्होंने पुरीके लिये, जहाँ देश-देशान्तरमें परिभ्रमण करके श्रीचैतन्य निश्चितरूपसे रहने लग गये थे, प्रस्थान कर दिया। उनका आशीर्वाद लेकर वहाँसे वापस आये और भाग्यवश लक्ष्मीप्रियाके गर्भ भी रह गया। फलतः वैशाखी पूर्णिमाको शुभ मुहूर्तमें परम भागवत श्रीनिवासने जन्म ग्रहण करके सारे परिवारको आनन्दमें निमग्न कर दिया। इन्हीं श्रीनिवास महाशयके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् वर्णन यहाँ किया जाता है।

माता-पिताके आचार-विचारका सन्तानपर बड़ा प्रभाव पड़ता है; और उसमें भी विशेषरूपसे माताके आचार-विचारका। कहा जाता है, अमुक व्यक्तिके अंदर तो माताके दूधके साथ-साथ ही अमुक विद्या प्रविष्ट हो चुकी थी। यह सर्वदा सत्य ही है। सर्व-प्रथम गुरुका कार्य करनेवाली माता ही होती है। श्रीनिवासकी माता लक्ष्मीप्रिया बड़ी धर्मपरायणा स्त्री थीं। वह अपने शिशुको स्तन्यपान कराती जातीं और इसके साथ-ही-साथ अपने बेटेके कानोंमें भगवान् और उनके भक्तोंका गुणानुवाद सुनाती जातीं। फल यह हुआ कि पहले-पहल बच्चेकी तोतली वाणीसे और कुछ न निकलकर भगवान् और उनके भक्तोंके नाम ही निकले। श्रीचैतन्य और उनके शिष्योंके नाम सदा उसकी जीभपर रहते। पिताके मुखसे भी श्रीनिवासको रात-दिन इसी प्रकारकी भक्तिपूर्ण चर्चा सुननेको मिलती। इस कारण आरम्भसे ही उनके भगवद्भक्तिके संस्कार बन गये। साथ ही योग्य गुरुके द्वारा अल्प-कालमें ही उन्होंने खासी विद्या भी प्राप्त कर ली। असाधारण प्रतिभाके कारण कुछ ही वर्षोंमें श्रीनिवास व्याकरण, न्याय, काव्य,

अलङ्कार आदिके अच्छे पण्डित हो गये। क्यों न हों, जब सौ विद्याओंकी विद्या भक्तिदेवी जन्मसे ही उनके हृदयमन्दिरमें प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। भक्तिदेवीके आ जानेके बाद अन्य समस्त विद्याएँ तो उनके पीछे-पीछे अपने-आप दौड़ी आती हैं।

अबतक श्रीनिवास युवावस्थाको प्राप्त हो चुके थे और भक्ति उनके हृदयमें भलीभाँति जड़ जमा चुकी थी। अब विपरीत बयारके झकोरोंसे उसके उखड़ जानेका डर जाता रहा। अब चैतन्यदासको उसकी देख-रेख करनेकी कोई खास जरूरत नहीं रह गयी थी। और न जाने इसीलिये या क्यों, चैतन्यदास इस लोकसे प्रयाण कर गये। मातासहित श्रीनिवासको इस घटनासे बड़ा शोक हुआ। इधर वह अपने नाना बलराम आचार्यकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हो चुके थे, अतः पिताका श्राद्ध आदि संस्कार करके वह माताको लेकर अपने ननिहाल जाजिग्राममें चले गये और वहीं रहने लगे। जाजिग्रामवासियोंको इन्हें अपने मध्य पाकर बड़ा सुख मिला। एक तो इनमें अगाध पाण्डित्य और ऊपरसे उसमें भगवद्भक्तिका संयोग—अब और चाहिये क्या? कहावत है कि सोना और उसमें सुगन्ध; पर बेचारा सुगन्धयुक्त सोना इस भक्तिसमन्वित विद्याकी समानता क्या कर सकता है! वह तो उसके सामने अति तुच्छ पदार्थ है। अवश्य ही श्रेष्ठातिश्रेष्ठ वस्तुका बोध करानेमात्रके निमित्त इस तुच्छातितुच्छ वस्तुकी उपमासे भी काम लिया जा सकता है। कहनेका मतलब यह कि जाजिग्रामकी वैष्णवमण्डलीके बीच यह इस प्रकार शोभायमान हुए जिस प्रकार तारिकामण्डलीके बीच चन्द्रमा।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीनिवासका जन्म ही एक तरहसे चैतन्यकी भक्ति लेकर हुआ था। अब तो वह एक बार उस पावन मूर्तिका दर्शन करके अपने नेत्रोंको तृप्त करनेके लिये तरस उठे। कटवानिवासी श्रीनरहरि सरकार जो वैष्णवमण्डलीमें सरकार ठाकुर या साकार ठाकुरके नामसे प्रसिद्ध थे, उनसे तथा अन्य चैतन्यभक्तोंसे सलाह लेकर उन्होंने पुरीके लिये प्रस्थान किया, पर मार्गमें उन्हें यह संवाद मिला कि जिन गौरचन्द्रके दर्शनोंकी लालसासे वह पुरी जा रहे हैं वह तो अदृश्य हो गये। यह दुःसंवाद पाते ही वह पछाड़ खाकर जमीनपर गिर पड़े और वेहोश हो गये। एक बार होशमें आकर, सिर धुन-धुनकर विलाप करके बारंबार बेहोश होने लगे। राहगीरोंको भी जब उनकी इस दशाका कारण मालूम होता तो वे भी आँसू बहाने लगते। इसी तरह दिन-का-दिन बीत गया और रात आ गयी। पर श्रीनिवासकी वेदना शान्त नहीं हुई, बल्कि वह ऐसे बढ़ी जैसे रातमें फोड़े आदिका कष्ट बढ़ता है। अबतक चैतन्यके उन्होंने एक बार भी दर्शन नहीं किये थे—उसके बिना ही उनका गुणगान सुन-सुनकर ही सन्तोष लाभ करते रहे थे; पर अब तो उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि चैतन्य-चरणोंसे वञ्चित होकर जीवन धारण करना ही व्यर्थ है। जब उनकी व्याकुलता बहुत अधिक बढ़ गयी तब भगवान्‌ने निद्रादेवीको भेज दिया, जिन्होंने उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया। श्रीनिवासको नींद आ गयी। इसी समय, स्वप्नमें श्री-चैतन्यदेवने दर्शन देकर उनसे कहा—'तुम सारा शोक त्याग कर अविलम्ब पुरी चले जाओ। वहाँ गदाधर आदि भक्तजन तुम्हारी राह

देख रहे हैं।' आँख खुलनेपर श्रीनिवासके व्यथित हृदयको इस स्वप्नसे भी बड़ी सान्त्वना प्राप्त हुई। सवेरा होते ही वह पुरीके लिये चल पड़े।

पुरी पहुँचनेपर श्रीनिवासने देखा कि नगरकी ईंट-ईंट गौरहरिके वियोगमें आँसू बहा रही हैं। पूछ-ताछकर गदाधर पण्डितके आश्रममें पहुँचे तो देखा कि वे अचेत पड़े हैं और उनकी आँखोंसे आँसुओंका झरना झर रहा है श्रीचैतन्यदेवका नाम लेकर श्रीनिवास उनके चरणोंमें लोट गये और अपने नेत्रोंके वारिप्रपातसे उन्हें भिगोने लगे। चैतन्यदेवका नाम कानमें पड़ते ही गदाधर पण्डितके मृतवत् शरीरमें चैतन्यका सञ्चार हुआ। शोकसन्तप्त हृदयमें शीतलता आ गयी। नव शक्ति पाकर निद्रासे जागे हुए व्यक्तिकी भाँति उठकर बैठ गये और पैर पलोटते हुए श्रीनिवासको उठाकर गलेसे लगा लिया। बोले—'भैया! तुम कौन हो, कहाँसे आये हो, जिसने अमृतमय नामका उच्चारण करके मुझ मुर्दा पड़े हुएको जिंदा करके उठाकर बैठा दिया। धन्य हो, बच्चा! तुम्हारा कल्याण हो।'

इसके पहले गदाधर पण्डितको भी श्रीनिवासके सम्बन्धमें एक स्वप्नादेश हो चुका था, इसलिये ज्यों ही उन्हें मालूम हुआ कि यह वही सज्जन हैं त्यों ही उनका हृदय आनन्दसे गद्गद हो गया। उन्होंने उन्हें एक बार पुनः उठाकर गलेसे लगा लिया और कहा—'बेटा! मुझे महाप्रभु यह आज्ञा कर गये हैं कि मैं तुम्हें तुरंत भागवत पढ़ाऊँ और भागवत समाप्त करके तुम्हारे लिये वृन्दावन जानेका आदेश है। श्रीगौरकी आज्ञा है कि तुम वहाँ जाकर रूप और सनातनके रचे हुए भक्तिशास्त्रका अध्ययन करो

और फिर समस्त गौड़ प्रदेशमें भक्तिकी भागीरथी प्रवाहित करो। हाँ, बेटा! मुझसे जो भागवत पढ़नेकी बात है उसमें कठिनाई यह है कि मेरे पास जो भागवतकी पोथी है, उसके जहाँ-तहाँ कितने ही अक्षर आँसू गिरनेसे मिट गये हैं। इसलिये एक काम करो, मैं सरकार ठाकुरके नाम एक चिट्ठी लिखे देता हूँ जिसे लेकर कल प्रातःकाल गौड़के लिये रवाना हो जाओ। वह तुम्हें भागवतकी नयी पुस्तक देंगे जिसे लेकर तुम जल्दी-से-जल्दी यहाँ आ जाओ। कारण, तुम देख ही रहे हो, मैं भी मौतके रास्ते-पर ही बैठा हूँ—न जाने कब चल बसूँ।'

गदाधर पण्डितके मुखसे श्रीगौरद्वारा निर्धारित अपने जीवनका समस्त कार्यक्रम सुनकर श्रीनिवासको बड़ी प्रसन्नता हुई। कल ही प्रातःकाल वापस जाना है, इस ख्यालसे श्रीगदाधरसे आज्ञा लेकर वह निकले और समुद्रस्नान तथा जगन्नाथदर्शनसे निवृत्त होकर सार्वभौम आचार्य, राय रामानन्द प्रभृति भक्तजनोंके यहाँ गये और उनके दर्शन किये। यह भक्त हरिदासकी समाधिस्थलीपर भी पहुँचे और उनके नामानुराग आदिका स्मरणकर अपने आँसुओंसे उसे तर करके चले आये।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठे और गदाधर पण्डितके चरणोंमें मस्तक झुकाकर गौड़के लिये चल पड़े और यथासमय श्रीखण्ड नामक स्थानमें सरकार ठाकुरके पास पहुँचे और उन्हें गदाधर पण्डितकी चिट्ठी दी। बतलाया, श्रीगौरके बिना श्रीक्षेत्र कैसा श्रीहीन हो गया है। यद्यपि श्रीनिवासके आनेके पहले ही सरकार ठाकुरको गौरके तिरोधानका समाचार मिल चुका था और वह बहुत अधिक

शोक प्रकाश कर चुके थे; पर श्रीनिवासके आते ही उनका शोक फिरसे नया हो गया। दोनों चैतन्यभक्त बहुत देरतक बिलख-बिलखकर रोये।

श्रीगदाधर पण्डितके आदेशानुसार वह सरकार ठाकुरसे भागवतकी पोथी लेकर शीघ्र ही पुरीके लिये चल पड़े; पर होनहार-की बात, रास्तेमें उन्हें यह दुःखद संवाद मिला कि पण्डित गदाधर भी अब इस लोकमें नहीं हैं। वास्तवमें गदाधर पण्डितने स्वप्नादेश-को न मानकर दूसरी भागवतकी पुस्तक न आनेतक श्रीनिवासको भागवत न पढ़ाकर बड़ी गलती की थी। उनका मृत्युकाल समीप था, इसीसे 'तुरंत' पढ़ानेका आदेश था। अस्तु, गदाधरकी मृत्युके संवादने उन्हें जर्जर कर दिया। हृदय टूक-टूक हो गया। आँखोंसे जलस्रोत बह निकला। सारे शरीरको शोकने ऐसे ग्रस लिया जैसे चन्द्रमा या सूर्यको राहु ग्रसता है। खैर, येन केन प्रकारेण अपने-आपको सँभाला। पर अब पुरीकी ओर पैर नहीं बढ़े। पैर बढ़ाना व्यर्थ भी था। अतः वह गौड़को वापस लौटे। पर ठीक-ठिकाने पहुँचनेके पूर्व रास्तेमें उन्हें खबर मिली कि श्रीगौरके परम अन्तरङ्ग श्रीनित्यानन्द तथा श्रीअद्वैताचार्य भी इस नश्वर शरीरको त्यागकर श्रीगौरके ही चरणोंमें जा विराजे हैं। बस, अब तो श्रीनिवासकी रही-सही हिम्मत भी टूट गयी। एक-एक करके उनके सारे अवलम्ब उनसे अलग कर दिये गये। सिरपर टूटकर गिरे हुए इस शोकके पहाड़से वह चूर-चूर हो गये। जमीनमें लोट-पोट होकर लगे छाती पीटने और सिरके बाल नोचने। महापुरुषोंका वियोग ऐसा ही दुःखदायी होता है।

इसी प्रकार रोते-धोते रात बीत गयी। सवेरा होते ही वह

गौड़की ओर चले। श्रीखण्डमें पहुँचनेपर उन्होंने सारा हाल रो-रोकर सरकार ठाकुरसे कहा। सरकार ठाकुर भी कलेजेपर पत्थर रक्खे सारी गाथा सुनते जाते थे और बहते हुए आँसुओंको पोंछते जाते थे। गौराङ्गके बाद एक-एक करके उनके सब पार्षद भी बिदा होते जाते हैं—इस बातका ध्यान कर-करके दोनों भक्तोंने खूब आँसू बहाये। इसके बाद कुछ दिन सरकार ठाकुरके ही यहाँ बिताकर, जी हलका होनेपर श्रीनिवास श्रीगौराङ्गकी जन्मभूमि तथा लीलाभूमियोंका दर्शन करनेको निकले। जब वह नवद्वीपमें पहुँचे तब उन्हें मालूम हुआ कि गौराङ्गके संन्यास लेनेके बादसे उनकी धर्मपत्नी श्रीविष्णुप्रिया कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतमें निरत हैं। वे किसी पुरुषका मुँहतक नहीं देखतीं। सारे दिन हरिनामका जप करती रहती हैं और सूर्यास्तके बाद थोड़े-से चावल बनाकर अपने इष्टदेवको समर्पण कर पा लेती हैं। उनके दर्शनकी इन्हें बड़ी लालसा हुई। उधर श्रीविष्णुप्रियाको इनके नवद्वीप आनेके पहले ही यह स्वप्न हुआ था, मानो श्रीगौराङ्गदेव पधारे हैं और श्रीनिवासकी गुणावलीका बखान कर उनके नवद्वीप-आगमनकी सूचना दे रहे हैं। इसलिये ज्यों ही उन्हें इनके आनेका संवाद मिला, उन्होंने इन्हें बुला भेजा। इन्होंने उनकी सेवामें पहुँच उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम कर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। फिर कई दिन नवद्वीपमें वास करके श्रीविष्णुप्रियाकी आज्ञासे श्रीअद्वैताचार्यकी निवास मि शान्तिपुर और श्रीनित्यानन्दके प्रचारक्षेत्र खड़दहको भी देखने गये। फिर खानाकुल कृष्णनगरमें श्रीअभिराम गोस्वामीके घर पहुँचे। उन्होंने इनका भलीभाँति आतिथ्य-सत्कार करके इनसे कहा—'श्रीनिवास! तुम

शीघ्र वृन्दावन पहुँचकर गोपाल भट्टसे दीक्षा लो। वहाँ रूप, सनातन और रघुनाथदासके दर्शन करो। इसके बाद श्रीचैतन्य कृपा करके तुम्हारे द्वारा अपना कार्य करा लेंगे। उनकी दयासे तुम्हारे द्वारा गौड़ प्रदेशमें भक्तिकी धारा बह निकलेगी।'

इसके बाद श्रीनिवास मातासे अनुमति लेकर वृन्दावनको चल पड़े और कटवा, जहाँ महाप्रभुने संन्यास ग्रहण किया था, नित्यानन्दकी जन्मभूमि एकचक्रा, गया, प्रयाग और अयोध्या आदि पुण्यस्थानोंके दर्शन करते हुए मथुरा पहुँच गये। वहाँ उन्हें दुःसंवाद मिला कि सनातन गोस्वामी भी प्रयाण कर चुके हैं। उनका यह घाव अभी ज्यों-का-त्यों बना हुआ था, इतनेमें वृन्दावन पहुँचते-न-पहुँचते उन्हें यह भी शोकसमाचार प्राप्त हुआ कि श्री-रघुनाथ और रूप गोस्वामी भी परलोक सिधार गये। इसी प्रकार लगातार एकके बाद एक चोट खाते-खाते उनका हृदय बिल्कुल जर्जर हो गया था। बुद्धि काम नहीं देती थी। भगवान्‌की क्या लीला है, समझमें नहीं आ रही थी। जैसे-तैसे गिरते-पड़ते वृन्दावनमें श्रीजीव गोस्वामीके आश्रममें पहुँचे। श्रीजीव गोस्वामी इन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'कल रातको मुझे तुम्हारे आगमन-का स्वप्न हुआ है।' इसके बाद वह इन्हें गोपाल भट्टके यहाँ ले गये। 'आओ भाई! भले आये, मैं तो तुम्हारी बाट ही देख रहा था' कहकर गोपाल भट्टने श्रीचैतन्यके हाथका लिखा एक पत्र इन्हें थमाते हुए कहा—'इसमें महाप्रभुने तुम्हारे सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा है।' अपने सम्बन्धमें श्रीचैतन्यके करकमलाङ्कित अक्षर देखते ही श्रीनिवास भावनिमग्न होकर जमीनपर गिर पड़े। सचेत

होनेपर श्रीजीव गोस्वामी इन्हें अपने आश्रममें ले गये।

इसके बाद निश्चित शुभ मुहूर्तमें गोपाल भट्टके हाथों श्री-निवासका दीक्षासंस्कार हुआ। अनन्तर श्रीजीव गोस्वामीके निकट इनका वैष्णव ग्रन्थोंका अध्ययन हुआ। श्रीगौरने श्रीनिवासके सम्बन्धमें जो भविष्यद्वाणी की थी, इससे श्रीजीव गोस्वामीको यह विश्वास तो पहले ही हो चुका था, कि यह कोई साधारण पुरुष नहीं होंगे; पर अध्ययनकालमें जब उन्हें इनकी अद्भुत प्रतिभाके दर्शन हुए तब तो उनके विश्वासका आधार और भी मजबूत हो गया। उन्होंने भक्तमण्डलीके सामने श्रीनिवासके सम्बन्धमें बोलते हुए कहा—'हमलोगोंके सर्वस्व श्रीगौराङ्गदेव अपनी लीला संवरण कर गये, उनके पीछे-पीछे एक-एक करके उनके पार्षद नित्यानन्द, अद्वैताचार्य और गदाधर पण्डित आदि सभी प्रयाण कर गये। श्रीरूप, सनातन तथा रघुनाथदास-जैसे भक्तशिरोमणि भी आज हमारे बीच नहीं हैं। हम हतप्रभ हो गये हैं और बंगालमें तो अब एक तरहसे सन्नाटा ही छा गया है। इसलिये इस बातकी बड़ी जरूरत है कि उस तुषारग्रस्त प्रदेशमें भगवत्तत्त्वका प्रकाश फैले। परंतु कार्य महान् है, इसलिये किन्हीं महान् पुरुषसे ही इसका होना सम्भव है। हम जानते हैं, गौर गौर थे, नित्यानन्द और अद्वैत भी अपने-अपने क्षेत्रमें अद्वितीय थे, इसलिये क्षतिपूर्तिकी तो आशा नहीं की जा सकती; परंतु इतनी आशा तो हमें करनी ही चाहिये कि इन लोगोंका बड़े यत्नसे लगाया हुआ जो भक्तिका महा उद्यान है वह इनके पीछे भी हरा-भरा रहे—सर्वथा उजाड़ न हो जाय। श्रीगौराङ्गदेवको

श्रीनिवासाचार्यसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। इसके प्रमाणस्वरूप उनके करकमलोंसे लिखा हुआ एक पत्र मेरे पास मौजूद है। निश्चय ही श्रीनिवासाचार्य असाधारण पुरुष हैं। इनके अंदर अद्भुत प्रतिभा है। पाण्डित्यकी भी कसर नहीं है। भक्तिभावका तो पूछना ही क्या है? श्रीचैतन्यदेवका आदेश और अपनी आँखों देखे इनके गुण—सबका विचार करनेके बाद मैंने यह स्थिर किया है कि यदि आप सर्व महानुभावोंकी सम्मति हो तो इन्हें श्रीरूप-सनातनविरचित तथा अन्यान्य भक्तिग्रन्थोंसे सम्पन्न करके गौड़के लिये रवाना कर दूँ। इनके साथ-साथ नरोत्तम और श्यामानन्दको भी भेजना अच्छा होगा। ये लोग इनके घनिष्ठ मित्र हैं, इसलिये कार्यक्षेत्रमें अच्छे सहयोगी सिद्ध होंगे।'

समस्त उपस्थित मण्डलीने बड़े हर्षके साथ इस प्रस्तावका अनुमोदन किया। यात्राका विचार निश्चित हो जानेपर चुन-चुनकर उपयोगी ग्रन्थ इकट्ठे किये गये और फिर उन्हें बड़े यत्नसे मोमजामेमें लपेटकर एक मजबूत-से संदूकमें बंद किया गया। फिर एक बैलगाड़ीपर लादकर उसे गौड़के लिये रवाना किया गया। रक्षाके लिये दस हथियारबंद सिपाही भी भेजे गये। इस प्रकार नरोत्तमदास और श्यामानन्दके सहित श्रीनिवासाचार्य गौरपादका आदेश पालन करनेके निमित्त वृन्दावनसे विदा हुए। विदाईका दृश्य बड़ा ही कारुणिक था। विदा होनेवाले और विदा करनेवाले सभीके नेत्रोंमें आँसू थे।

श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द तीनों सत्सङ्गी जीव थे। इसलिये रास्ता बड़े मजेसे तय हो रहा था। भगवच्चर्चा छिड़ जाती

तो कोस-के-कोस निकल जाते, पता ही न चलता। चुप्पी सधती तो ऐसी सधती कि कई-कई घंटेतक सन्नाटा ही छाये रह जाता। तीनों-के-तीनों साधक ध्यान और तत्त्वचिन्तनमें ऐसे निमग्न होते कि बाह्यचेतनाको सर्वथा खो बैठते। इसी प्रकार अनेक प्रदेशों और नगरोंको लाँघते हुए यात्री लोग गौड़देशकी सीमामें पहुँच गये और बाँकुड़ा जिलेके वनविष्णुपुर ग्राममें पड़ाव डाल दिया। पर यहाँ एक दुर्घटना हो गयी। रातको जब सब लोग सो रहे थे, डाकुओंका एक दल चढ़ गया और गाड़ीपर लदे हुए संदूकको धन-दौलतसे भरा हुआ समझकर गाड़ीसमेत उसे जंगलमें ले जा छिपाया। श्रीनिवासाचार्य आदि हाथ मलते रह गये। आखिर सवेरा होते ही उन्होंने वृन्दावनवासी सिपाहियोंको वापस किया और इस दुर्घटनाका सारा विवरण श्रीजीव गोस्वामीको लिख भेजा। नरोत्तम और श्यामानन्दको भी अपने-अपने घर रवाना कर दिया और कहा—'भाई! मैं तो जबतक पुस्तकें न मिलेंगी, तबतक घर लौटकर जाऊँगा नहीं। तुम लोग जाओ!'

इस प्रकार सब साथियोंको जहाँ-तहाँ रवाना करके वह अन्यमनस्क होकर उसी विष्णुपुरके गली-कूचोंमें घूम-घूमकर दिन बिताने लगे। लोग इन्हें कोई यों ही ऐरा-गैरा समझकर इनकी ओर विशेष ध्यान न देते और इन्हें भी क्षुधासे अत्यधिक पीड़ित होनेपर किसी प्रकार कहींसे रूखा-सूखा अन्न प्राप्त करके पेटको भर लेनेके सिवा उन लोगोंसे क्या प्रयोजन था? ग्रन्थापहरणके कारण हक्के-बक्के-से हुए यह चुपचाप अकेले कभी किसी वृक्षके नीचे जा बैठते,

कभी कहीं। पर कैसा ही घटाटोप क्यों न हो जाय, सूर्यका प्रकाश कबतक छिपा रह सकता है? इसी प्रकार हमारे श्रीनिवासाचार्य भी अधिक छिपे न रह सके। एक दिन विष्णुपुरके कृष्णदास नामक एक ब्राह्मणकुमारने बातों-ही-बातों यह भाँप लिया कि यह कोई असाधारण पुरुष हैं। वह इनपर लट्टू हो गये। एक दिन वह इन्हें वहाँके राजा हम्मीरकी सभामें भी ले गये। उस समय वहाँ भागवत-की कथा चल रही थी। यह मैले-कुचैले कपड़े पहने चुपचाप एक किनारे बैठ गये और भागवत सुनने लगे। कथा सुननेसे इन्हें मालूम हुआ कि कथावाचक महोदयका ज्ञान बहुत परिमित है, पर फिर भी वह पूरी हेकड़ीके साथ श्लोकोंके मनमाने अर्थ कर-करके उन्हें लोगोंके कानोंमें जबरदस्ती ठूस रहे हैं। बस, अब इनसे न रहा गया। इन्होंने पण्डितजी महाराजकी भूल बतलाना शुरू कर दिया। पण्डितजीने इन्हें दीन-मलीन देखकर बिल्कुल साधारण आदमी समझा था, इसलिये एक बार उन्होंने इनके सामने पाण्डित्य बघार ही दिया; पर तर्कमें दो कदम और आगे बढ़नेपर उनके पैर उखड़ गये। उन्होंने समझ लिया कि अब इनके सामने अपनी विद्वत्ताको और अधिक खर्च न करनेमें ही शोभा है। इधर इस कुछ मिनटके तर्क-वितर्कमें ही इनकी प्रतिभाकी किरणें एक बार सर्चलाइटकी तरह सारी सभामें फैल गयीं। राजा हम्मीरको तो इनकी वाणीने इस प्रकार अपनी ओर खींच लिया जैसे चुम्बक लोहेको खींचता है। उसने प्रार्थना की—'महाराज! आप ही कुछ देर दया करके इस कथामृतका पान कराके हम सबको कृतकृत्य कीजिये।' सारी सभाका

इस प्रकार भावपरिवर्तन देखकर और राजाज्ञा सुनकर पूर्व व्यास स्वयं ही उनके लिये स्थान खालीकर दूसरे आसनपर जा विराजे। श्रीनिवासाचार्यने बिना किसी राग-द्वेषके भावके, सहज स्वभावसे व्यासासनको सुशोभित करके कथारम्भ किया। फिर तो इन्होंने वह अमृतकी वर्षा की कि सारे श्रोता चित्रलिखित-से रह गये। भगवान्की लीलाओंका रस-पान करते-करते अघाते ही न थे। राजा हम्मीरकी भी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी। पूर्व वक्ताका सारा अभिमान गल गया और कथा समाप्त होनेपर उन्होंने इन्हें विनीत भावसे प्रणाम करके क्षमा-याचना की। और राजा हम्मीरका तो इस कथाने मानो उद्धार ही कर दिया। अपने दुष्कर्ममय जीवनके प्रति उन्हें घोर घृणा हुई और हृदयमें भगवच्चरणारविन्दोंकी सेवा करनेका सङ्कल्प उदित हुआ। कथा तो वे बराबर ही सुनते थे; पर उसी तरह जिस तरह राजे-महाराजे शौकके और बहुत-से काम किया करते हैं। विषयानन्दके परे भी कोई आनन्द होता है और होता है तो वह कैसा होता है इसका यत्किञ्चित् आभास उन्हें आज मिला। उन्होंने अपनी अश्रुधारासे श्रीनिवासके चरणोंको भिगोकर अपनी कृतकृत्यता प्रकट की। पीछे बातों-ही-बातों जब उन्हें यह पता चला कि हालमें विष्णुपुरमें जो गाड़ी लूटी गयी है, वह इन्हीं श्रीनिवासाचार्यकी थी, तब तो लज्जाके मारे वे पानी-पानी हो गये। क्योंकि वे राजा क्या थे, डाकुओंके सरदार थे। इनका जीवन बड़ा दुष्कृत्यपूर्ण था। धन-दौलतके लोभसे श्रीनिवासाचार्यकी गाड़ीको इन्होंने ही गायब किया था। परन्तु जैसे दिनभर भूल-भटककर शामतक ठिकाने पहुँच जानेवाला भूला नहीं समझा जाता, वैसे ही पापी-से-पापी होकर भी मनुष्य

जब भगवान्‌की शरणमें पहुँच जाता है तो उसके उद्धारमें सन्देह नहीं रहता। भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९। ३०)

राजाने हाथ जोड़कर अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी और कहा कि सप्तर्षि वाल्मीकिके उद्धारके लिये पधारे थे और मैं समझता हूँ, आपने मेरे उद्धारके लिये दर्शन देनेकी कृपा की है। आजसे मेरा जीवन आपके चरणोंपर निछावर है।

इसके बाद राजा श्रीनिवासको एक बंद कमरेमें ले गये और कहने लगे—'देखिये यही न है आपका सन्दूक? देख लीजिये आपकी एक चिटतक गायब नहीं होने दी गयी है।' श्रीनिवासने देखा, उनके सारे-के-सारे ग्रन्थ ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा मालूम हुआ मानो प्राण मिल गये। उन्होंने बड़ी श्रद्धाके साथ ग्रन्थोंके सन्दूकको प्रणाम किया। इसके बाद श्रीनिवास कुछ दिन वहीं राज-अतिथि होकर रहे। राजाने उनके लिये स्वतन्त्र स्थानकी व्यवस्था कर दी और सदा वहीं उनकी सेवामें उपस्थित होकर भागवत सुना करते। श्रीनिवासाचार्यसे उन्होंने मन्त्रदीक्षा भी ग्रहण कर ली।

वनविष्णुपुरसे चलकर श्रीनिवास जाजिग्राम पहुँचे। दीर्घकालके बाद अपने लालको आया देखकर माताकी हिलकी भर आयी। उसने बड़े प्रेमसे उसे पुचकारा और पास बैठाकर

उसकी पीठपर हाथ फेरा। खबर पाकर गाँवके भी नेमी-प्रेमी जुट आये। सबने बड़े प्रेमके साथ अपने पथप्रदर्शकका स्वागत किया। श्रीनिवास अब वहीं रहकर अध्ययन तथा हरिनामसङ्कीर्तनमें जीवन बिताने लगे। बड़े-बड़े तार्किक उनके पास आते और परास्त होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार करते। रामचन्द्र कविराज तार्किकोंके शिरमौर समझे जाते थे, यह भी पूरे जोशखरोशमें भरकर आचार्यके पास वाद-विवाद करने आये। डटकर शास्त्रार्थ हुआ। परंतु अध्यात्म-प्रकाशके ही दूरसे दर्शन होते ही तर्कबुद्धिकी आँखमें चकाचौंध छा जाती है, अतः उससे युक्त आचार्यके सामने रामचन्द्र विवादमें कैसे ठहर सकते थे? इसके सिवा श्रीनिवास पाण्डित्यमें भी उन्नीस नहीं थे। जिन युक्तियोंको रामचन्द्र कविराज सर्वथा अखण्डनीय समझकर उपस्थित करते थे, उन्हें आचार्य हँसते-हँसते ही उड़ा डालते थे और विशेषता यह थी कि उनकी वाणी संहारका कार्य भी ऐसे हितचिन्तन-के साथ कर रही थी जैसे डाक्टर घावकी चीर-फाड़ करता है। वह कविराजकी भूल इस प्रकार सुझाते जिस प्रकार परम कारुणिक गुरुजन अपने शिष्योंकी भूल सुझाया करते हैं। फलतः रामचन्द्र कविराजने अपना सारा अभिमान त्यागकर श्रीआचार्यके चरणोंको प्रणाम किया और उनका शिष्यत्व भी अङ्गीकार किया। घोर तार्किक रामचन्द्रके भक्ति-पथके पथिक बनते ही मानो तार्किकोंका गढ़ टूट गया। अनेक दिग्गज विद्वानोंके भक्तिके झंडेके नीचे आ जानेसे गौड़के गाँव-गाँव और घर-घरमें भगवन्नामका घोष सुनायी

देने लगा। जल्दी ही इन्हें प्राणोंसे अधिक प्यार करनेवाली और स्वयं भगवद्भक्तिपरायणा इनकी माता प्रयाण कर गयीं, जिससे इन्हें महान् कष्ट हुआ; पर इससे इनके उद्दिष्ट कार्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ी। आगे चलकर सरकार ठाकुर तथा इनके गुरुदेवने विशेष आग्रह करके इनका विवाह भी करा दिया; पर गार्हस्थ्यजीवन बिताते हुए भी इनका भक्तिप्रचारका कार्य पूर्ववत् जारी रहा। वृन्दावनसे आनेके बाद यह दो बार पुनः उस पुण्यभूमिका दर्शन करने गये थे, पर वहाँ जानेपर दीक्षागुरु श्रीगोपाल भट्टके दर्शन इन्हें प्राप्त नहीं हो सके। वह तो इनके जानेके पूर्व ही इस लोकसे प्रस्थान कर चुके थे और दूसरी बार तो वहाँ जाकर यह स्वयं भी वापस नहीं लौटे। अब उनका कार्य समाप्त हो चुका था। इसलिये अपना अन्तिम जीवन श्रीवृन्दावनधाममें ही बितानेकी इनकी साध थी। श्रीवृन्दावनविहारीकी अनुकम्पासे उस पवित्र क्षेत्रमें ही हरिनाम लेते-लेते इन्होंने अपनी अन्तिम घड़ी व्यतीत की। श्रीनिवासके पिता चैतन्यदासको श्रीचैतन्यदेवने यह आशीर्वाद दिया था 'तुम्हारे जो पुत्र होगा उसके अंदर मेरा प्रकाश रहेगा।' चैतन्यका यह श्रीचैतन्यमय प्रकाश असंख्य अन्धकारपूर्ण हृदयोंको प्रकाशित करके अन्तमें समस्त विश्वको व्याप्त करनेवाले महाप्रकाशमें जा मिला।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भक्त श्रीधर

गौड़ देश (बंगाल) में पुण्यसलिला भागीरथीके तटपर नवद्वीप नामक एक नगर है। बहुत प्राचीन कालसे ही विद्या और शास्त्राध्ययनके लिये यह अत्यन्त प्रसिद्ध है। यहाँ न्याय और वेदान्तके दिग्गज पण्डित निवास करते हैं। अबसे लगभग पाँच सौ वर्ष पहलेकी बात है, वहाँ श्रीधर नामक एक बड़ा गरीब निर्धन ब्राह्मण रहता था। संसारमें गरीबका आदर कौन करता है? गरीबको दान ही कौन देता है? प्रायः धनियोंके यहाँ तो धूर्त, ढोंगी और खुशामदियोंका ही आदर होता है। वहाँ सीधे-सादे गरीबका प्रवेश कहाँ? इस गरीब ब्राह्मणकी तो धोती भी मैली और जगह-जगहसे फटी है, सीनेके लिये सूई-डोरा कहाँसे आवे? फटी धोतीमें गाँठें लगी हैं। एक टूटी झोपड़ी ही इसका राजमहल है, वह भी नगरसे बाहर दूर! धनियोंके बीचमें गरीबोंकी बस्ती कैसी?

गरीब ब्राह्मण कहींसे माँग-जाँचकर दस-पाँच पैसे लाया है, उसीसे अपनी जीविका चलाता है। कहींसे एक फटा पुराना टाट ले आया है, पाँच-छः पैसेमें एक पुराना केलेका पेड़ ले आता है उसे काटकर छिलकोंके दोने बना लेता है, गङ्गाजीके रास्तेमें पसार लगाकर बैठता है, पत्ते-दोने बेचकर नित्य चार-पाँच पैसे कमा

लेता है। जो मिलता है उसमेंसे आधेके तो फल-फूल खरीदकर श्रीभगवान्के उद्देश्यसे गङ्गाजीमें चढ़ा देता है, झोपड़ीमें भगवान्का पूजन कहाँ करे? गङ्गाको विष्णुपदी मानकर वहीं भगवान्का पूजन करता है। बाकीके आधे पैसोंसे चना, चबेना, चिउरा लेकर भगवान्के निवेदनकर भोजन कर लेता है। उसकी टूटी झोंपड़ीमें भात राँधनेको बरतनतक नहीं है। पात्रोंमें एक जल पीनेका लोहेका फटा लोटामात्र है। ऐसे दीन-हीन कंगालपर कौन करुणा करे?

हाँ, पड़ोसियोंका उसपर कोप अवश्य था, क्योंकि वह गरीब होनेपर भी रातभर जोर-जोरसे हरिनामकीर्तन किया करता था। उस उच्च कीर्तनकी ध्वनिसे बेचारे पड़ोसियोंको बड़ी पीड़ा होती थी। कोई कहता, 'इस अभागेको पेटभर खानेको तो मिलता नहीं जिससे रातको नींद आवे, पेटकी ज्वालासे दुष्ट रातों जागता और चिल्लाता है।' कोई कहता, 'इस बदमाशको झोपड़ीमें आग लगा दो।' कोई कहता, 'नहीं रे, आग लगानेसे तो पड़ोसियोंके घर जलनेका डर है, इसके झोपड़ेको खोद-खादकर गङ्गामें ही क्यों न बहा दो।' कोई-कोई ईश्वरसे यह प्रार्थना करता कि 'यह दुष्ट मर जाय तो हम सुखकी नींद सोवें।' कई लोग श्रीधरके मुँहपर गालियाँ सुनाते और शाप दिया करते, परंतु श्रीधर इन सब दुर्व्यवहारोंसे कभी विचलित, भीत या दुःखित नहीं होता। वह तो कभी-कभी एक दूसरे ही उत्पातसे भयभीत और पीड़ित हुआ करता था।

❀ ❀ ❀

नवद्वीपमें एक बड़ा ही चञ्चलप्रकृति नवयुवक ब्राह्मण रहता था, उसका नाम था निमाई पण्डित। नवयुवक होनेपर भी नगरके सब पण्डित उससे डरते और उसका सम्मान करते थे। उसका वर्ण सुन्दर गौर था, इससे लोग उसे गौराङ्ग या गौर भी कहा करते थे। माता-पिताने उसका नाम रक्खा था 'विश्वम्भर'। यह निमाई पण्डित स्वयं जैसा चञ्चल था, वैसे ही इसके विद्यार्थी भी बड़े चञ्चल थे। विद्यार्थी तो प्रायः उत्पाती हुआ ही करते हैं, परन्तु इस अध्यापक पण्डितका चपल होना सोनेमें सुगन्ध-सा था।

जिस दिन निमाई पण्डित श्रीधरके दूकानके सामनेसे निकलता उस दिन उस बेचारेकी विपत्ति सीमाको पहुँच जाती। निमाईका श्रीधरके यहाँसे कुछ-न-कुछ लेनेका नियम था, वह जिसका दाम अधेला कहे, निमाई उसका छदाम दे। न दे तब उसे यह अपनी ओर खींचे और वह अपनी ओर, इस तरह दो-चार मिनट खींचा-तानी जरूर हो। एक दिन निमाईने कुछ लेकर कहा—'दो जी ! छदाममें दे दो !'

श्रीधर—नहीं बाबा ! मैं गरीब कमजोर कंगाल ब्राह्मण हूँ, मुझपर दया करो।

निमाई—क्या हम ब्राह्मण नहीं हैं, हम क्या दयाके पात्र नहीं हैं ?

श्रीधर—बाबा ! तुम पण्डित हो, धनी हो, मान्य हो। मैं निर्धन, दीन, दयाका पात्र हूँ, दया करो।

निमाई—तू निर्धन नहीं है, तेरे पास बहुत धन है, और लोग नहीं जानते, मैं जानता हूँ।

श्रीधर—बाबा ! पत्ते, दोने छोड़ दो, तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ !

निमाई—इतना अभिमान ? मेरे हाथोंसे छीनता है ?

श्रीधर—बाबा ! तुम यों ही ले जाओ, मुझसे झगड़ा न करो; मैं हारा, तुम जीते ।

निमाई—क्या मैं प्रतिग्रही हूँ जो यों ही ले जाऊँ, अच्छा तू नित्य गङ्गापूजन करता है, मैं तेरी गङ्गाका पिता हूँ, मुझे दोने-पत्ते कम कीमतपर दे दे !

श्रीधर—(कानोंमें अँगुली डालकर) विष्णु ! विष्णु !! पण्डित तो देवी-देवताओंका सम्मान किया करते हैं, तुम पण्डित होकर देवताओंके अपराधसे भी भय नहीं करते ? हरे ! हरे !!

श्रीधरने दोने-पत्ते छोड़कर कानोंमें अँगुलियाँ डाली थीं कि निमाई दोने-पत्ते लेकर चलता बना। निमाईके लिये यह कौतुकमय प्रमोद था और वेचारे श्रीधरके लिये महान् विपत्ति !

निमाई-श्रीधरका यह झगड़ा प्रायः नित्य ही चला करता ।

* * *

यह बात नगरभरमें फैल गयी कि निमाईने दिग्विजयी पण्डितको पराजित कर दिया। अब नवद्वीपमें निमाईसे बढ़कर कोई पण्डित नहीं है। श्रीधर तो यह सुनते ही सन्न हो गया। 'ऐसे पण्डितके प्रतिकूल आचरण करनेका साहस किसको होगा ? मेरी कौन सुनेगा ? मुझपर अब भारी विपत्ति आयी ! नवद्वीप छोड़कर जाऊँ भी कहाँ ? यहाँ टूटी झोंपड़ी तो है, दूसरी जगह तो स्थान भी नहीं मिलेगा। क्या करूँ ? भगवान् उसे सुबुद्धि दे, सम्भव है इतनी बड़ी प्रतिष्ठा पाकर अब वह चपलता नहीं करेगा।' श्रीधरका मन इस उधेड़बुनमें लग गया।

निमाई पण्डित गयाजी गये—चले गये। सब लोगोंका चित्त उदास है। नवद्वीपमें मानो अन्धकार छा गया। सब लोग दिन गिनते हैं, कब निमाई पण्डित लौटेंगे। सबके रहते भी नवद्वीप सूना-सा हो गया।

निमाई पण्डित लौट आये, लौटे तो सही पर अब वह निमाई नहीं रहे। पण्डिताईका सारा अभिमान हवा हो गया, नेत्रोंसे निरन्तर अश्रुधारा बहती है, जिसे देखते हैं, उसीके गले लिपटकर कहते हैं, 'मेरा जीवन व्यर्थ है, बताओ मेरे प्राणजीवन श्रीकृष्ण कहाँ हैं? वे कहाँ मिलेंगे, बताओ क्या उपाय है? मेरे प्राण जाते हैं, बताओ!' यों कहते-कहते पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, धूलमें लोटने लगते हैं, सोनेका-सा कमनीय कलेवर धूलिधूसरित हो जाता है; आँसुओंकी इकतार धारासे बदनके कपड़े भींग जाते हैं। 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' पुकारते पुकारते मूर्छित हो जात हैं, स्नान-भोजनकी कुछ भी सुधि नहीं है, रात-दिनका कोई ज्ञान नहीं है।

निमाई पण्डितके इस परिवर्तनका समाचार धीरे-धीरे सारे नवद्वीपमें फैल गया। लोग तरह-तरहकी चर्चा करने लगे। कोई कहता 'रात-दिन तर्क-वितर्क और शास्त्रविचार करते रहनेसे वायुका प्रकोप हो गया है।' दूसरा कहता, नहीं! गर्मी चढ़ गयी है!' तीसरा कहता, 'भाई! आश्चर्य है, मनुष्यकी आँखोंमें इतने आँसू कहाँसे आते हैं? मनुष्यके शरीरमें यह कम्पन और मूर्च्छा कहाँ? निमाई साधारण मनुष्य नहीं हैं, कोई महापुरुष हैं।' कुछ अपनेको विशेष सयाना समझनेवाले लोग कहते 'छोड़ो जी इस अन्धश्रद्धाको, इसके तो मृगीका रोग है रोग!' जितने मुँह! उतनी बातें?

निमाई जब मूर्छित होकर गिर पड़ते तब मार्गके लोग एकत्र हो जाते और 'हरि बोल, हरि बोल'की ध्वनि करने लगते थे। उस ध्वनिसे उनकी मूर्च्छा भङ्ग हो जाती थी। निमाई रास्तेमें चले जा रहे हैं, लड़कोंने कौतुकसे कह दिया 'हरि बोल, हरि बोल' बस, निमाई मूर्च्छित होकर गिर पड़े। 'हरि बोल' से ही इनको मूर्च्छा होती और उसीसे फिर चैतन्य होता! इनका कुन्दनके समान गौर-वर्ण तो था ही, हरिनामसे इनकी दशाका परिवर्तन देखकर लोग इन्हें 'गौरहरि' कहने लगे।

* * *

निमाई परम भक्त हो गये हैं, अब उनमें पहलेकी-सी चपलता नहीं रही है, वह औद्धत्य नहीं है। यह सुनकर श्रीधरको बड़ा आनन्द हुआ। निमाई बड़े सुन्दर हैं, उनके दर्शनसे हृदय तृप्त होता है—नेत्र शीतल होते हैं—प्राण आकृष्ट होते हैं। श्रीधर चाहता है कि मैं भी उनके दर्शन करूँ, पूजन करूँ; पर फिर उनके उत्पातकी आशङ्कासे रुक जाता है, मनका भाव मनहीमें रह जाता है।

गौरहरिका अनुराग यहाँतक बढ़ा कि अब प्राचीन और नवीन सभी भक्तगण सदा उनके पास रहनेमें अपना सौभाग्य समझते हैं, उनका चरित्र और प्रभाव देख-देखकर अब उनको भक्तश्रेष्ठ और महापुरुष ही नहीं प्रत्युत साक्षात् ईश्वरका अवतार मानने लगे हैं।

श्रीधर भक्त है, इससे वह 'गौरहरि भगवान् हैं' यह सुनकर फूले अङ्गों नहीं समाता। कलिकालमें, पृथ्वीपर इसी देश और इसी नगरीमें मनुष्य-नाट्यमें भगवान्! हम उन्हें देख सकते हैं, छू

सकते हैं, बातें कर सकते हैं। अहा! जीवका इससे अधिक सौभाग्य और क्या होगा?

निमाई पहले बड़े तार्किक थे। भक्तमण्डलीको मार्गमें देखकर वे उसे घेर लेते और तर्क-वितर्क किया करते। कभी-कभी हँसकर 'सोऽहम्' कह देते। इस अभेदवादसे वैष्णवभक्तोंके मनमें बड़ा कष्ट हुआ करता, लोग पीछा छुड़ाकर भागते। परंतु अब वे ही सब भक्त सदा-सर्वदा इनके साथ रहते हैं, रक्षा करते हैं, चरणस्पर्श करते हैं और इनकी सेवा करना दुर्लभ लाभ समझते हैं।

गौरहरिकी आज्ञासे श्रीवास पण्डितके प्राङ्गणमें सब वैष्णव-मण्डली एकत्र होकर मृदङ्ग, करताल, शङ्ख, घण्टा, रणसिंगा और तुरही लेकर उच्चस्वरसे तुमुल हरिसङ्कीर्तन करती है। यह सङ्कीर्तन रातको हुआ करता है। इससे निन्दकों और पाखण्डियोंको एक काम मिल गया, खूब समालोचना होने लगी। 'देखो, निमाई पण्डित कैसा अच्छा विद्वान् था, पण्डितोंमें अग्रगण्य था, परंतु जबसे यह गयाजीसे आया है, सब पढ़ना-लिखना छोड़कर हो-हल्ला मचाने और नाचने-कूदने आदि निकम्मे कर्म करने लगा है, पता नहीं इसमें इसने क्या लाभ सोचा है! अरे भाई! पहले तो शहरमें एक बूढ़ा ब्राह्मण ही ऐसा था जिसको भूखके कारण रातको नींद नहीं आती, इसलिये वह चिचियाया करता था; परंतु यह सब तो नंगे-भूखे नहीं हैं। क्या इन्हें भी नींद नहीं आती है, जिससे रातभर चिल्लाया करते हैं। न खुद सोते हैं, न मुहल्लेके दूसरे भले आदमियोंको सोने देते हैं। भाई! हमने सुना है जिनका माथा गरम हो जाता

है उन्हें नींद नहीं आती। भला, एक-दो पागल होते तो दूसरी बात थी परंतु ये तो सैकड़ोंकी संख्यामें हैं। क्या उन्माद भी छूतकी बीमारी होती है। चलो देखें तो सही, ये रातको क्या पाखण्ड करते हैं, सुना है, दरवाजा भी बंद कर लेते हैं!'

* * *

श्रीवास पण्डितके आँगनमें श्रीहरिनामसङ्कीर्तनमें गौरहरि ऐश्वर्य प्रकाश करने लगे हैं, यह संवाद भी नवद्वीपमें धीरे-धीरे फैलने लगा। बेचारे अकिञ्चन श्रीधरके कानतक भी यह समाचार पहुँचा। वह मन-ही-मन मुदित होने लगा। 'अहा! मेरा जन्म कैसे शुभ समयमें हुआ है जब कि भगवान् स्वयं धरातलपर मनुष्योंमें विहार करते हैं। जाऊँ दर्शन तो कर आऊँ! छू न सकूँगा, बोल न सकूँगा तो क्या दूरसे भी देख न सकूँगा?' फिर विचारता है, जहाँ श्रीअद्वैत आचार्य और श्रीवास पण्डित-सरीखे महापुरुषोंका समवाय है वहाँ मुझ-जैसे अकिञ्चनकी पहुँच कहाँ?

* * *

आज श्रीवासके आँगनमें कीर्तन करते-करते गौरहरि आनन्दके आवेशमें मनुष्य-नाट्य भूल गये। ऐश्वर्यका प्रकाश हो गया। वे ठाकुरजीके मन्दिरमें सिंहासनपर जा बैठे। सहस्र-सहस्र सूर्यके सदृश अङ्गों-का प्रकाश हो गया; पर देखनेवालोंकी आँखें चौंधियायीं नहीं। प्रकाश उज्ज्वल शान्त शीतल है। भक्तमण्डली जय-जय ध्वनि करने लगी। सब-के-सब आनन्दमें डूब रहे हैं, रात-दिनका पता नहीं है। हम कहाँ हैं, कौन हैं, यह पृथ्वी है या वैकुण्ठ है, कुछ

ज्ञान नहीं है। प्रभु एक-एक भक्तको बुलाते हैं—दर्शन देते हैं—वर देते हैं। भक्तगण अपने-अपने उपास्य इष्टरूपसे प्रभुके दर्शन कर रहे हैं। प्रभुने पुकारकर कहा, 'श्रीधर! श्रीधर! श्रीधरको लाओ!' सुनते ही कुछ लोग श्रीधरके घरकी ओर दौड़े और श्रीधरके पास जा कर बोले—'श्रीधर! चलो, श्रीधर! चलो, तुमको प्रभुने बुलाया है।' 'प्रभुने बुलाया है' इतना सुनते ही श्रीधर आनन्दसे विह्वल होकर गिर पड़ा, उसके मनमें भावतरङ्गें उमड़ने लगीं—प्रभुने बुलाया है—जीव सहस्रों वर्ष जप, तप, योग, यज्ञ करके बड़ी कठिनतासे जिसका दर्शन पाते हैं, उसने बुलाया है? इससे अधिक जीवका और क्या सौभाग्य है? अहा हा! जीवको भगवान् बुलाते हैं—ऐसा भी होता है? मुझे भगवान् बुलाते हैं, मुझ-सरीखे दीनपर यह दया! भगवान्की मुझपर दृष्टि है—भगवान् मुझे जानते हैं, अरे जानते ही नहीं बुलाते हैं, इन सब भावोंने श्रीधरको स्तब्ध कर दिया, उसकी बाहरकी सब इन्द्रियाँ—उसका सम्पूर्ण ज्ञान लुप्त हो गया! अब चले कौन?

दो-चार भक्तोंने उसे उठा लिया और ले चले। नगरके लोग देखते हैं कि कुछ मनुष्य एक दरिद्र कंगाल वृद्ध ब्राह्मणको उठाये लिये जा रहे हैं, सब आनन्दमें हँसते और नाचते-गाते हैं, बीसों लोग पीछे दौड़े जा रहे हैं और सब मतवाले होकर हरिनामकी ध्वनि कर रहे हैं। नगरके लोग कहने लगे, 'अरे, बेचारे बूढ़े ब्राह्मणको गङ्गा-प्राप्ति हो गयी। हाय! गङ्गाका मार्ग छोड़कर ये लोग इस मृतकको नगरमें कहाँ लिये जा रहे हैं? इसको एक

कपड़ेसे भी तो नहीं लपेटा। पर ये लोग हँसते-हँसते जा रहे हैं। क्या बात है, पागल तो नहीं हो गये?'

श्रीधरको ले जानेवाली भक्तमण्डलीको नगरके लोगोंके कहने-सुननेकी कुछ भी परवा नहीं है। वे अपनी धुनमें मस्त हैं। आनन्दसे नाचते जा रहे हैं—प्रभुकी आज्ञा पालन कर रहे हैं। उन्होंने श्रीधरको मूर्च्छित दशामें ही ले जाकर श्रीवास पण्डितके आँगनमें सुला दिया। सब भक्त उसे घेरकर खड़े हैं और देख रहे हैं।

* * *

गौरहरिने मेघगम्भीर वाणीसे कहा, 'श्रीधर!' इस वाणीने श्रीधरके हृदयमें बिजलीका काम किया। उसने आँखें खोलीं, वह क्या देखता है कि, 'मृदु-मन्दगतिसे यमुनाजी हिलोरें ले रही हैं। पुष्पित द्रुमलताओंपर पक्षी कलरव कर रहे हैं, भ्रमर गुंजार करते हैं, कदम्बतरुमूलमें नवजलधर गोपकिशोर पीताम्बर, मयूर-मुकुट-वनमालाविभूषित त्रिभङ्गललित खड़े वंशी बजा रहे हैं। गोपबालक इतस्ततः क्रीड़ा कर रहे हैं। गौएँ चर रही हैं और बछड़े उछल रहे हैं।' श्रीधरने मन-ही-मन कहा, 'ऐं! यह क्या? मैं कहाँ हूँ? स्वप्न देख रहा हूँ, नहीं, मैं तो जागता हूँ, इतनी दूरसे मैं यहाँ कैसे और किस मार्गसे आ गया?'

श्रीधर यह सोच ही रहा था कि उसके कानोंमें यह आवाज पड़ी, 'श्रीधर! मुझे देख, मैंने तेरे दोने और पत्तोंमें बहुत बार भोजन किया है, तैंने मुझे बहुत दोने-पत्ते दिये हैं?' श्रीधर विचार करता है—'कैसे दोने-पत्ते? किसे दिये? यह है क्या

खेल ?' प्रभुने हँसकर कहा—'नहीं-नहीं ! तैंने नहीं दिये; मैं तो छीनकर लेता था। तू समझता था कि मैं अन्याय कर रहा हूँ, परन्तु प्यारे ! मैं भक्तके धनको अपना धन समझता हूँ, इसीसे कभी छीन लेता हूँ; अरे, कभी-कभी तो चुरा भी लेता हूँ, पर अभक्तका दिया हुआ तो कुछ भी नहीं लेता !'

अब श्रीधरको स्मरण आया—'अहा ! ये निमाई पण्डित हैं। हा ! मैंने कौड़ियोंके लिये भगवान्‌से झगड़ा किया ! मेरे जीवनको धिक्कार है ! मैं घोर अपराधी हूँ। जिनके उद्देश्यसे ऋषि-मुनिगण वेदमन्त्रोंसे अग्निमें हवनकर अपने जीवनको कृतार्थ मानते हैं वह साक्षात् हरि मेरे दोने-पत्ते अपने हाथोंसे ग्रहण करते थे और मैं उनसे छीना-झपटी करता था। मेरे सिरपर वज्र क्यों न गिर पड़ा ? अब इसका क्या प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त कहाँ ? प्रायश्चित्त तो पापका होता है, अपराधका प्रायश्चित्त कहाँ है ? अग्निसे जलेका प्रधान उपाय अग्नि ही है, भगवदपराधकी शान्ति भगवान् ही हैं। चलूँ चरणोंपर गिरकर उनकी ही शरण लूँ। अरे, अपराधीको चरणस्पर्शका अधिकार कहाँ ?' यह विचारते-विचारते श्रीधर फिर मूर्च्छित हो गया।

* * *

प्रभु भक्तका सन्ताप जानकर फिर मेघगम्भीर स्वरसे बोले—'श्रीधर, इधर आ !' श्रीधर उठा और मन्त्रमुग्धकी तरह डगमगाता हुआ चला। हर्ष-विषादके मिलनसे जो सुख होता है, उसको वही जानते हैं जिनको कभी वह हुआ है। यह है विष और अमृतका एकत्र मिलन—प्रतिक्षण जीवन और मरण !

प्रभुने अपना दाहिना चरण बढ़ाकर श्रीधरके मस्तकपर रख दिया और कहा, 'श्रीधर ! माँग, क्या माँगता है—तू दरिद्रतासे पीड़ित है, कपड़ा सीनेको सूईतक तुझे नहीं जुटती। तेरी फटी धोतीमें गाँठें लगी हैं और उसमेंसे धूल झड़ती है, तेरे छप्परपर फूस नहीं है, आज धन, राज्य-सम्पद् जो चाहे सो ले ले !'

अब श्रीधरका कष्ट मिटा, उसे विश्वास हो गया कि मेरा ऐसा घोर अपराध भी प्रभुने ग्रहण नहीं किया, ऐसी कृपा ! अहा ! आनन्द ! आनन्द !!

भृत्यस्य पश्यति गुरूनपि नापराधान्
सेवां मनागपि कृतां बहुधाभ्युपैति ।

पर मैंने सेवा कहाँ की है ? मैं तो इनके हाथोंसे छीन लेता था। तिसपर यह कृपा ! अहा ! विचार तो बड़े-बड़े उठते हैं; परंतु प्रभुके चरणस्पर्शसे जो आनन्दका समुद्र उमड़ा उसमें सब कुछ डूब गया, केवल एक आनन्द ही शेष रह गया।

श्रीधरको फिर आनन्द-मूर्च्छा हो गयी ! बहिरिन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार सबका एक साथ उस आनन्दमें लय हो गया। इस प्रेमानन्दके आगे ब्रह्मानन्द भी तुच्छ है !

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिरसाम्भोधेः परमाणुकलामपि ॥

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

भक्त गदाधर भट्ट

श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके समकालीन श्रीगदाधर भट्ट अपनी मधुर उपासनाके लिये संत भक्तोंमें अग्रगण्य माने जाते हैं। आप हृदयके बड़े ही सरल थे। श्रीकृष्णके रसिक भक्त थे। सदा श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलाके रसास्वादनमें डूबे रहते थे। एक दिन श्रीजीव गोस्वामीके आगे दो साधुओंने भट्टजीका बनाया यह पद गाया—

सखी, हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाइ गई वह मूरति, सूरति माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो, सोइ रही रस खोई।
जागेहुँ आगें दृष्टि परै सखि, नेकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अँखियनमें निसिद्योस रह्यो करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यो सखि, सो धौं कन्हैया कौन॥
कासों कहौं, कौन पतियावै कौन करै बकवाद।
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगे को गुड़ स्वाद॥

इस पदको सुनकर श्रीजीव गोस्वामीने उन साधुओंके हाथ भट्टजीके पास एक पत्र भेजा। उसमें यह श्लोक था—

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान्
कुतः श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः॥

यह श्लोक पढ़कर भट्टजी प्रेमावेशमें मूर्च्छित हो गये। संज्ञा आनेपर तुरंत सब कुछ छोड़-छाड़कर सीधे वृन्दावन चले आये। यहाँ आप श्रीमहाप्रभुजीके शरणापन्न हुए। आप श्रीमहाप्रभुजीके विशेष कृपापात्र थे। श्रीजीव गोस्वामीने आपको संक्षेपमें 'रसतत्त्व' बतलाया था। आपके निर्मल चरित्र एवं संतस्वभावके सम्बन्धमें श्रीनाभाजीका यह छप्पय प्रमाण है—

सज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालै।
निरमत्सर निष्काम कृपा करुणा को आलै॥
अनन्य भजन दृढ़ करन धर्‌यो बपु भक्तन काजै।
परमधाम को सेतु बिदित बृंदावन गाजै॥
भागवत सुधा बरषै बदन, काहू को नाहिं न दुखद।
गुन निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद॥

आपके सम्बन्धमें कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं, उनमें एक-दो यहाँ लिखी जाती हैं। भट्टजी बहुत सुन्दर कथा कहते थे। उनकी कथामें रसका प्रवाह बहता था। कथा सुनते-सुनते लोगोंकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग जाती थी। एक महन्त ऐसा था जिसके आँसू नहीं आते थे और इससे उसे बड़ी लज्जा मालूम होती थी। एक दिन वह थोड़ी-सी पिसी हुई लाल मिर्चकी एक छोटी-सी पोटली बाँध लाया। जब कोई रसका प्रसङ्ग आता, तभी उसे आँखोंपर फेर लेता, जिससे आँखोंसे पानी निकलने लगता। पास

बैठे हुए एक आदमीने इस चालाकीको समझ लिया। उसने कथा उठनेके बाद भट्टजीसे शिकायत की। उसने सोचा, भट्टजी महन्तको यह करतूत सुनकर उससे घृणा करेंगे, परंतु भट्टजीने इस बातको दूसरे ही रूपमें समझा और बोले कि 'तब तो वे बड़े महात्मा हैं, मैं अभी उनके दर्शनार्थ जाता हूँ।' भट्टजी तुरंत महन्तजीके घर पहुँचे। भट्टजीको देखकर वह सोचने लगा कि 'हो-न-हो मेरी चाल इन्हें मालूम हो गयी है, न मालूम ये क्या कहेंगे। हे भगवन्! मेरा इतना कठोर हृदय क्यों किया जो किसी बातसे भी नहीं पिघलता।' भट्टजी पहुँचते ही उनको प्रणाम करने लगे और बोले—'महन्तजी! सचमुच आप बड़े महात्मा हैं, मुझे तो आपके उच्चभावका आज पता लगा। विल्वमङ्गलजीने स्त्रीदर्शनसे दुखी होकर आँखें फोड़ ली थीं। आपने तो आँखोंको इसलिये दण्ड दिया कि वे भगवान्‌के गुणानुवाद सुनकर भी आँसू नहीं बहातीं। धन्य है आपको और आपकी भक्तिको!' भट्टजीकी सरल वाणी सुनकर आज सचमुच महन्तका हृदय पिघल गया और उसकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली। दोषमें गुण देखना इसीका नाम है—संतका यही स्वभाव है।

एक दिन रातको भट्टजीके घरमें एक चोरने सेंध लगायी। मालमतेकी गठरी बाँधकर चोर ले जाना चाहता था। परंतु गठरी बहुत भारी हो गयी थी, वह उठा नहीं सकता था। इतनेमें भट्टजी लघुशङ्काको उठे और चोरकी यह दशा देखकर उन्हें बड़ी दया आयी। उन्होंने प्रेमसे कहा 'लो, मैं उठाये देता हूँ।' चोरने भट्टजीको देखते ही भागना चाहा। भट्टजीने उसे आश्वासन देते हुए

कहा—'भैया ! भागते क्यों हो ? कोई डर नहीं है, तुम्हें जरूरत थी, इसीसे इतनी अँधेरी रातमें तुम इतने कष्टसे लेने आये हो !' चोर लज्जित हो गया । भट्टजीके बड़े आग्रहसे चोर गठरी अपने घर ले गया, परंतु उसका मन बदल चुका था । वह सवेरे गठरी लेकर लौटा और भट्टजीके चरणोंपर गिरकर रोने लगा । भट्टजीने उसे हृदयसे लगा लिया । चोरका अन्तःकरण शुद्ध हो गया । वह सदाके लिये साधुचरित्र हो गया ।

त्याग, अनुराग और प्रेमाभक्तिकी तो आप मूर्ति ही थे । श्रीराधारानीके सम्बन्धमें आपका परम मधुर पद यहाँ दिया जा रहा है । इससे उनके हृदयकी सरसताका पता चलता है—

जयति श्रीराधिके सकल सुख साधिके
तरुनि मनि नित्य नवतन किसोरी ।
कृष्न तन लीन घन रूप की चातकी
कृष्न मुख हिमकिरन की चकोरी ॥
कृष्न दृग भृंग विश्राम हित पद्मिनी
कृष्न दृग मृगज वंधन सुडोरी ।
कृष्न अनुराग मकरंद की मधुकरी
कृष्ण गुन गान रस सिंधु बोरी ॥
बिमुख परचित्त ते चित्त जाको सदा
करत निज नाह की चित्त चोरी ।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बनै
अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी ॥

भक्त लोकनाथ गोस्वामी

कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम् ।
अये कृष्ण स्वामिन् मधुरमुरलीवादन विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥

यमुनाजीका सुन्दर पुलिन हो, वृन्दावनके सुन्दर वनोंमें मधुर वंशी बजाते हुए हलधर और सुदामा आदि प्यारे गोपोंके साथ आप विचरण कर रहे हों । हे मेरे प्राणनाथ ! हे मेरे मदनमोहन ! ओ मेरे चितचोर ! वे दिन कब आवेंगे, जब मैं तुम्हारी इस छबिको हृदयमें धारण किये पागलोंकी भाँति 'कृष्ण कृष्ण' चिल्लाता हुआ अपने जीवनके शेष समयको निमिषकी नाईं बिता दूँगा ।

लोकनाथ गोस्वामीका जीवन इस श्लोकका एक परम सुन्दर और अत्यन्त सजीव भाष्य है ।

बंगालके जैसोर जिलेमें तालखड़ी नामक एक छोटा-सा मामूली गाँव है । लगभग चार सौ वर्ष पूर्व इस गाँवमें एक बहुत ही सम्भ्रान्त कुलके पद्मनाभ चक्रवर्ती नामक ब्राह्मण रहते थे । इनकी पत्नीका नाम था सीतादेवी ! सीता सीता ही थी । इस धर्मप्राण ब्राह्मण-दम्पतिका एकमात्र पुत्र था लोकनाथ । घरमें वैष्णव-उपासना वंश-परम्परासे चली आ रही थी । स्वयं पद्मनाभ चक्रवर्ती श्रीअद्वैत प्रभुके शिष्य थे और सदा उन्हींकी सेवा-शुश्रूषामें रहते थे । इन सब कारणोंसे लोकनाथको बहुत ही दिव्य संस्कार प्राप्त हुए और छोटी अवस्थामें ही बालक लोकनाथने संस्कृतका बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और वह संस्कृतके कठिन ग्रन्थोंको लगाने लगा । उसकी

यह अलौकिक प्रतिभा और अत्यन्त निर्मल बुद्धि देख सभी सिहाते। इतना ही नहीं, लोकनाथकी प्रतिभा और मेधा तो लोकोत्तर थी ही। साथ ही उसका हृदय भी बड़ा ही प्रेमी और भक्तिपरायण था। श्रीकृष्णका नाम उसे प्राणोंसे भी प्यारा था। कहीं किसीने गोविन्द, वासुदेव, माधव, नारायण, हरि कह दिया और लोकनाथने सुन लिया तो सुनते ही लोकनाथकी कुछ और ही दशा हो जाती। उसका हृदय भर जाता, आँखें छलछला उठतीं और भेदभरी दृष्टिसे उस नामामृत पिलानेवाले व्यक्तिकी ओर वह देखने लगता ! संसार-की कोई भी चर्चा लोकनाथको जहर-सी लगती।

प्रेमावतार महाप्रभु श्रीश्रीचैतन्यदेवका नाम और यश बंगालके कोने-कोनेमें शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी तरह बढ़ रहा था। स्वयं भगवान् ही प्रीतिपरवश प्रेमका यह रूप धारणकर इस धराधामपर पधारे हैं, यह बात सर्वत्र फैल गयी। लोकनाथके कानोंतक भी यह रहस्यभरी बात एक तूफान लेकर पहुँची। यह तूफान हममेंसे प्रत्येकके जीवनमें आता है। एक सङ्केत, एक इशारा, एक निमन्त्रण हम सभीको, एक-एक जीवको प्राप्त होता है; परंतु हम उसे सुना-अनसुना कर देते हैं और जगत्के जंजालमें ही उलझे रह जाते हैं। इतनी शक्ति, इतनी क्षमता, इतनी सामर्थ्य हममें नहीं होती कि एक बार पूरी शक्ति लगाकर सबकी ममता, सारे स्नेहबन्धनोंको बटोरकर प्रभुके पादपद्मोंमें जोड़ दें और इसीलिये हम दुःखके महासागरोंमें गोते लगाते रहते हैं। परंतु जो संस्कारी हैं, जिनका हृदय-मन्दिर स्वच्छ एवं निर्मल है, जिनके मन-प्राण प्रभुकी प्यासमें तड़प रहे हैं, वे इस मौन निमन्त्रणको, इस निशा-निमन्त्रणको सुनते

हैं और सुन लेनेपर उनकी जो दशा हो जाती है उसको कोई वैसा ही समझ सकता है ! इसीलिये एक आत्मदर्शी गुजराती संतने गाया है—

'रामबाण वाग्याँ होय ते जोणे ।'

घायलकी गति घायल ही जानता है, या जानता है वह 'शिकारी', जो पर्देके भीतरसे शिकार कर रहा है ।

महाप्रभुकी महिमा और प्रेमाकर्पणसे आकृष्ट लोकनाथका हृदय भाड़में पड़े हुए अन्नके दानेकी तरह तड़फड़ाने लगा । एक बार भर आँख 'उन्हें' देख लूँ, यही इस अल्हड़ बालकके प्रेमबिंधे हृदयकी एकमात्र साध थी ! और लोकनाथके घरसे नवद्वीप, बस, दो दिनका रास्ता था । लोकनाथका चित्त एकदम उदास रहने लगा । संसारकी किसी भी बातमें उसे रस नहीं मिलता और वह रात-दिन केवल रोया ही करता । किसीने इसका कारण कुछ समझा, किसीने कुछ । माताका हृदय माता ही जानती है । बालककी उदासी और खिन्नता देख वह एक दिन रो पड़ी और बहुत-बहुत समझाने-बुझाने लगी; परन्तु वहाँ तो और ही आग लगी हुई थी । माँ बापको यह भय था कि महाप्रभुके सङ्गमें पड़ जानेपर यह लड़का बेहाथ हो जायगा । जो अपने माँ-बापकी इकलौती सन्तान हो, जो कुलका भूषण और घरका दीपक हो, वह लाड़ला लाल घर छोड़कर साधु-संन्यासियोंके साथ घूमता फिरे, यह माँ-बापका हृदय भला कैसे गवारा कर सकता है ? वे समझाते—'बच्चा ! तुम्हें भगवान्‌के पथमें चलना ही है तो हम कैसे रोक सकते हैं ? रोकें भी क्यों ? भगवान् श्रीहरि बड़े दयालु हैं वे कहाँ नहीं हैं ? यहीं रहकर उनका भजन करो, उनकी उपासना करो; परन्तु हमें छोड़कर अन्यत्र जानेकी बात क्यों सोचते

हो ? तुम्हीं तो इस घरके एकमात्र उजियाले हो। हमलोग तुम्हारे बिना कैसे रहेंगे ? तुम चाहे जो करो, परन्तु घरमें रहो।'

परन्तु लोकनाथके हृदयमें जो भट्टी जल रही थी। जो आग भभक उठी थी, वह उसके बूतेकी नहीं थी। फिर वह कैसे रुकता ? माँ-बापने एक तदबीर सोची, परन्तु कितनी गलत थी वहीं तदबीर! कच्चे धागेमें मदोन्मत्त हाथीको बाँध रखनेका स्वप्न! विवाहके वेष्टनमें लोकनाथकी आत्मिक ज्वालाको बुझा डालनेकी एक बालचेष्टा! लोकनाथके कानोंमें विवाहके प्रस्तावकी भनक पड़ी। वह अपनोंकी इस साजिशको समझ गया। भीतरसे 'किसी'ने जोरसे धक्का मारा। किवाड़ खुल गये। माता-पिता, घर-द्वार, सबका मोह छोड़कर लोकनाथ प्रेममार्गमें चल पड़े।

यह शूरोंका मार्ग है, वीरोंका पथ है। कायर इसमें चल नहीं सकते। इस मार्गमें चलनेवाले सरफरोशीकी तमन्ना लेकर चलते हैं! सुत, बित, नारी, सबकी मोह-मायाको मिटाकर ही प्रभुके मार्गमें बढ़ा जा सकता है। अपना ही सिर अपने हाथों उतारकर रख देना पड़ता है और उसीपर पैर रखकर प्रेमके मन्दिरमें प्रवेश किया जाता है। जो पग-पगपर, पल-पलपर अपने शरीर, अपने धन जन-परिवारके लिये परेशान है, अच्छा है वह इधर न झाँके, नहीं तो लेनेके देने पड़ जाते हैं। वह न इधरका रहता है, न उधरका। उसे न खुदा ही मिलता है, न बिसाले सनम! जिसे इस मार्गमें जाना हो तैयार होकर आवे, मर मिटनेके लिये कमर कसकर आवे।

हरिनो मारग छे शूरानो, नहिं कायरनुं काम जो ने।
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, बलती लेवुँ नाम जो ने॥

सुत वित दारा शीश समरपे, ते पामे रस पीवा जो ने।
सिंधु मध्ये मोती लेवा मांही पड्या मरजीवा जो ने॥
मरण आगमें ते भरे मूठी. दिलनी दुग्धा वामे जो ने।
तीरे उभा जुए तमाशा, ते कोड़ी नव पामे जो ने॥
प्रेम पंथ पावकनी ज्वाला, भाळी पाछा भागे जो ने।
मांही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जो ने॥
माथा साटे मोंघी वस्तु, साँपड़वी नहीं स्हेल जो ने।
महापद पाम्या ते मरजीवा, मकी मननो मेल जो ने॥
राम अमल माँ राता माता, पूरा प्रेमी परखे जो ने।
प्रीतमना स्वामीनी लीला ते रजनी-दिन नरखे जो ने॥

तीरपर खड़ा-खड़ा तमाशा देखनेवाला मोती कैसे पा सकता है! उसके लिये तो प्राणोंकी बाजी लगाकर समुद्रके गर्भमें समा जाना पड़ता है। मोती मरजीवाको ही मिलता है। यह प्रेम-पंथ अग्निकी एक ऐसी ज्वाला है जिसके भीतर पड़ा हुआ तो महान् सुख भोगता है और जो केवल तमाशबीन हैं—तमाशा देखनेवाला है वह जलता है। रामके नशेमें राते-माते प्रेमी पुरुषको जो परख लेता है वह रात-दिन स्वामीकी ही लीला निरख-निरखकर आनन्दपुलकित होता रहता है।

अगहनका महीना, रातका सुहावना समय। चाँदनी छिटकी हुई थी। चन्द्रमा अमृत बरसा रहा था और इस अमृतवर्षाके द्वारा वह 'किसी' का सन्देश किसीतक पहुँचा रहा था—मानो हृदयको गुदगुदाकर कह रहा था—'उठो, 'वह' कबसे, किस अनादि कालसे तुम्हारी प्रतीक्षामें खड़ा है! चलो, उस ललित सङ्केत-वटके नीचे 'वह' खड़ा है, झुरमुटमें छिपा हुआ तुम्हारी बाट जोह रहा है।

कबसे, कितने जन्मोंसे तुम भरम रहे हो। उसके हृदयमें तुम्हारे लिये, तुमसे मिलनेके लिये कितनी व्यथा है। काश, तुम समझते! कबतब भटकोगे, ओ मरनेवाले भोले प्राणी! आँखें खोलकर देखो, मैं 'उसी' का अमृतसन्देश तुम्हें सुना रहा हूँ—मुझमेंसे छन-छनकर उसीका अमृत बरस रहा है; लोकनाथने ऊपर आकाशकी ओर देखा और फिर देखा उस अमृतमें सराबोर समस्त दिग-दिगन्तको। चन्द्रमा जो कुछ कह रहा था—कोटि-कोटि नक्षत्र उसीकी हामी भर रहे थे। दूर, बहुत दूर कोई धीरे-धीरे वंशी बजा रहा था और उसकी धीमी-धीमी मधुर अमृत-ध्वनि लोकनाथके कानोंमें प्रवेशकर प्राणोंको भिगो रही थी, आत्मसात् कर रही थी! 'अच्छा, मैं आता हूँ, कहकर लोकनाथ उठा और अपने प्यारेके मार्गमें चल पड़ा।

रातभर लोकनाथ चलता ही रहा। दूसरे दिन सन्ध्यासमय जब सूर्यनारायण अस्ताचलको जा रहे थे वह नवद्वीप पहुँचा। महाप्रभुको भर आँख कब देखूँगा, इसी लोभमें उसकी सारी यात्रा सुखपूर्वक एवं मस्तीके साथ समाप्त हुई। थकनेका नाम नहीं। रुकनेका काम नहीं। न भूखने सताया, न प्यासने। जो परम प्रियतमके मार्गमें चल रहा है वह राहमें कैसे विरमे? मन्दिरका पुजारी राहकी सरायमें कैसे टिके? उसे तो बस, चलना-ही-चलना है—अविराम, अविश्रान्त। गङ्गाका प्रवाह जैसे अविरल गतिसे चलता जाता है और चलता ही जाता है जबतक वह अपने प्राणनिधि महासागरकी गोदमें अपनेको लय नहीं कर देता! ठीक इसी प्रकार भक्तकी साधना भी अथक रूपमें चलती रहती है और तबतक चलती ही रहती है—एक पल बिना विरमे हुए चलती रहती है—जबतक वह हरिके चरणोंमें अपने-आपको अर्पित नहीं कर देती।

'क्या मेरे ऐसे भाग्य हैं कि मैं महाप्रभुका दर्शन कर सकूँगा ? क्या वे अपने श्रीचरणोंमें मुझे शरण देंगे, मेरी बाँह पकड़कर मुझे अपनी गोदमें छिपा लेंगे ! वे इतने महान्, मैं इतना तुच्छ ! परन्तु वे मेरी ओर क्यों देखेंगे ! यदि वे मेरी ओर देखें तो मेरा निस्तार कहाँ ! वे तो अपनी ही ओर देखें तभी अपनाये जानेकी आशा है। क्या पता, मुझे सर्वथा अनधिकारी अपात्र समझ वे ठुकरा दें। परन्तु उनके द्वारा ठुकराये जानेमें भी तो एक आनन्द है ! ना, ना, मैं अधम हूँ तो क्या, पतित हूँ तो क्या, वे मुझे अस्वीकार नहीं करेंगे, इतने उदार हैं वो।' हृदय इन भावोंके ज्वारभाटामें आन्दोलित हो रहा है, प्राण मचल रहे हैं।

मालूम हुआ, किसीने इशारा किया, महाप्रभु इसी घरमें हैं। इतना सुनना था कि लोकनाथका हृदय एक विचित्र संवेदनामें पाषाणकी तरह जड़ हो गया, निश्चेतन हो गया। शरीर जहाँ-का-तहाँ थहरा गया। सारी शक्ति, समस्त चेतना लुप्त हो गयी ! थोड़ी देर बाद जिस किसी तरह, जैसे एक भारी बोझको उठा रहा हो, वैसे ही अपने शरीरको उठाकर लोकनाथ आँगनमें गया। वहाँ जाकर वह क्या देखता है कि महाप्रभु एक उच्च आसनपर विराजमान हैं और श्रीवास, मुकुन्द, मुरारि आदि भक्तोंकी टोली उन्हें चारों ओरसे घेरे हुए है। दृष्टि गड़ी सो गड़ ही गयी, एकटक महाप्रभुकी ओर लोकनाथ देखता ही रह गया। वाणी मूक थी। रास्तेभर सोचता आया था कि महाप्रभुके दर्शन होंगे तो उनके चरणोंमें यह निवेदन करूँगा, वह निवेदन करूँगा; यह कहूँगा, वह कहूँगा; ऐसे उनके चरणोंको छातीसे लगाकर आँसुओंसे नहला दूँगा, वैसे

उनकी गोदमें मस्तक रखकर उन्हें अपने हृदयकी व्यथा सुनाऊँगा। परन्तु यहाँ उसकी यह जड पाषाणकी-सी दशा है !

आँगनमें प्रतिमाकी तरह खड़े इस सुकुमार बालकपर महाप्रभुकी दृष्टि गयी। वे दौड़े—दोनों बाहें फैलाये वे दौड़े और लोकनाथको उन्होंने अपनी भुजाओंके पाशमें बाँध लिया। वह पवित्र मिलन, वह मधुर आलिङ्गन! प्यारे लोकनाथ! तुम इतने दिन मुझे बिसारकर कहाँ बैठे थे?—महाप्रभुने स्नेह और प्रीतिसे गद्गद शब्दोंमें कहा। महाप्रभुका आलिङ्गन पाकर लोकनाथकी सारी सुध-बुध खो गयी और भावावेशसे वह प्रभुके वक्षःस्थलपर मूर्च्छित हो गया।

पाँच दिन एक स्वप्नकी तरह निकल गये। कहाँ क्या हो रहा है, लोकनाथको कुछ पता नहीं। एक नवीन जीवन, एक नवीन प्राण, एक नवीन स्फूर्तिसे उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग उच्छ्वसित हो उठा। लोकनाथ अब पहलेका लोकनाथ नहीं रहा। महाप्रभुके मधुर पावन स्पर्शसे उसका रोम-रोम पुलकित, आह्लादित हो रहा था। कण-कणसे कृष्ण-कृष्णकी मधुर ध्वनि आ रही थी, रोम-रोमसे हरि-हरिकी पुकार निकल रही थी, प्राण-प्राणमें प्रभुकी प्रीति छलक रही थी। महाप्रभु उसके हृदयके सिंहासनपर विराजमान थे। लोकनाथ अपने अन्तस्तलकी इस स्वर्गीय सुषमाको देखकर स्वयं विमुग्ध था, विमूढ़ था। सन्ध्याकालीन शान्त आकाशमें जैसे पूर्णिमाका चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कलाओंके साथ उदय होता है, उसी प्रकार लोकनाथके हृदयाकाशमें महाप्रभु अपने समस्त प्रेम, सम्पूर्ण सौन्दर्य और समग्र आनन्द-श्रीके साथ प्रकट हुए और लोकनाथकी दृष्टि अपने भीतरके इस शीशमहलके प्यारे अतिथिकी

ओर जाती है तो उसकी दशा उस रङ्कके समान हो जाती है जो सहसा त्रिभुवनका स्वामी बना दिया गया हो ! अपने ऊपर उसे विश्वास नहीं होता था, परन्तु अपने हृदयके अन्तःपुरमें जो कुछ वह देख रहा है उसे वह क्या कहकर अस्वीकार करे ? अपने हृदयके भीतर ही रिझानेका सुख जो लूट चुका है उसके लिये बाहरका संसार कितना फीका हो जाता है; बाहरकी ओर वह देखे भी तो किसलिये ?

पाँच दिन इस पागलपनमें, इस अलौकिक उन्मादमें एक सपने-की तरह बीत गये ! अजीब बेखुदी थी वह । छठे दिन महाप्रभुने लोकनाथको बुलाकर कहा—'वत्स ! तुम वृन्दावन चले जाओ और जीवनके शेष दिन वहीं व्यतीत करो ।'

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु ।
सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधां
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज ॥

'हे भाई ! वृक्षोंके नीचे जहाँ स्थान पाओ वहीं पड़ रहो, आसपासके गाँवोंसे मधुकरी माँग लाओ, बेरोक-टोक श्रीयमुनाजीका जल भरपेट पीओ और ओढ़नेके लिये चिथड़ोंकी गुदड़ी बना लो । सम्मानको अत्यन्त कराल विष समझो और नीचोंके द्वारा अपमानको अमृत समझो; श्रीराधामाधवका भजन करो, परन्तु मित्र ! वृन्दावन कभी न छोड़ना ।'

लोकनाथको जैसे काठ मार गया । प्रभुकी इस कोमल-कठोर आज्ञापर उसका हृदय एक बार दहल उठा । 'क्या प्रभु मुझे अपने चरणप्रान्तमें आश्रय न देंगे ? श्रीचरणोंको छोड़ मुझे अन्यत्र कहाँ

आश्रय मिलेगा, कौन पूछेगा, इन चरणोंसे वियुक्त होकर मैं प्राण-धारण कैसे कर सकूँगा? मेरे लिये यह जीवन एक भार हो जायगा! प्रभु, मुझे इस प्रकार श्रीचरणोंसे निर्वासित न करें। जैसा कुछ हूँ, आपका ही एक अबोध शिशु हूँ न?' मुझे आप किसके भरोसे छोड़ते हैं? माँके सिवा बालकका अपना कौन है?' लोकनाथके कंधेपर हाथ रखकर दुलारभरे शब्दोंमें महाप्रभु समझाने लगे—'तुम ऐसी बातें क्यों करते हो? मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ? अरे, तुम क्या जानो, तुम्हारे लिये मेरे हृदयमें कितनी प्रीति, कितनी व्यथा है? निराश मत हो। निराशाकी कोई बात नहीं। यह अगहनका महीना है। पूसका महीना बीचमें है—माघमें मैं भी घर-द्वार छोड़कर संन्यास लूँगा। तुम वृन्दावनके लिये हमारे पहले अगुआ बनो। तुम्हारे पीछे-पीछे और वैष्णव भी वृन्दावन जायँगे। वृन्दावन अपनी पुरातन महिमा खो चुका है। उस वृन्दावनमें विहार करनेवाले श्रीकृष्णकी लीलाभूमिमें उन समस्त स्थानोंको खोज निकालना है, जहाँ-जहाँ श्रीहरिने मधुर लीलाएँ की थीं। मैं भी तुम्हारे जानेके कुछ ही दिन बाद वृन्दावन आ रहा हूँ। समझे न?'

इस प्रकार सारी बातें समझाकर महाप्रभुने लोकनाथको वृन्दावनके लिये भेज दिया। लोकनाथ वृन्दावन धाममें पधारनेवाले महाप्रभुके सर्वप्रथम शिष्य थे। महाप्रभुने संन्यासकी बात सबसे पहले श्रीमुखसे लोकनाथको ही सुनायी थी। श्रीनित्यानन्द प्रभु जो महाप्रभुके इतने निकट थे, संन्यासकी बात महाप्रभुके संन्यास लेनेके बस, एक ही दिन पहले जान पाये। इससे यह प्रकट है कि महाप्रभुके हृदयमें लोकनाथके लिये कितना स्नेह और सम्मान था!

महाप्रभुकी आज्ञाको लोकनाथ टाल नहीं सकते थे। इसीलिये उन्होंने आज्ञा पाकर महाप्रभुके चरणोंमें मस्तक रख दिया और श्रद्धा तथा प्रेमके अतिरेकमें निवेदन किया—'प्रभुकी यदि यही इच्छा है तो मुझे भी वह सहर्ष स्वीकार है। मुझे अब कुछ भी कहना नहीं है। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है और उसके पालनमें ही मेरे लिये परम आनन्द है। आप दयाकर मुझे यह बतलानेका कष्ट करें कि वहाँ मुझे क्या-क्या करना है।'

महाप्रभुने भक्तको छातीसे लगा लिया और आँसुओंसे उसे नहला दिया। इसके साथ ही लोकनाथने अपने हृदयमें श्रीकृष्णकी समस्त वृन्दावन-लीलाओंका दिव्य दर्शन किया। महाप्रभुने कहा—'तुम चीरघाटपर जाओगे—वहाँ कदम्ब, तमाल और बकुलकी सघन कुञ्जें हैं—वहीं, उन कुञ्जोंके नीचे बैठकर तुम अपनी प्रेम-साधनामें लगे रहना!'

दूसरे दिन प्रातःकाल लोकनाथ महाप्रभुसे विदा लेने आये। प्रभुके चरणोंको भुज-पाशमें बाँधकर वे फूट-फूटकर रोने लगे। गदाधर पण्डित तथा उनके शिष्य भूगर्भ वहीं थे। गदाधर भी रो रहे थे। विदाईके इस करुण दृश्यसे भूगर्भका हृदय इतना भर आया कि वे भी वृन्दावन जानेको तैयार हो गये। उन्होंने अपने गुरुदेव गदाधर पण्डितसे आज्ञा माँगी। महाप्रभुने गदाधर पण्डितकी ओर एक भेदभरी दृष्टिसे देखा और गदाधर पण्डितने अपने शिष्यको वृन्दावन जानेकी आज्ञा सहर्ष प्रदान कर दी।

आजसे चार सौ वर्ष पूर्व बंगालसे वृन्दावन जानेमें क्या-क्या कठिनाइयाँ, क्या-क्या कष्ट थे—इसका हमलोग आज अनुमान भी नहीं कर सकते। लोकनाथ और भूगर्भ—अभी इनकी उम्र ही क्या

थी—इन दो लड़कोंने अपने स्वेदशको सदाके लिये प्रणाम कर लिया और घर-द्वार, माता-पिता, सुख सुविधा आदि सभीका मोह छोड़कर वे पैदल वृन्दावन चल पड़े। दो महीनेका रास्ता और मार्ग-में भिक्षाटनके अतिरिक्त और कोई संबल नहीं। वृन्दावनमें उनकी भाषा जाननेवाला भी कोई व्यक्ति नहीं था। कितने साहस, कितनी कठोर तपश्चर्याका यह व्रत था! राजमहलकी पहाड़ियोंतक पहुँचनेपर इन दोनों बालकोंको मालूम हुआ कि परस्परके भेदभाव तथा अनबनके कारण उत्तर भारतके सभी रजवाड़ोंमें कलह और अशान्ति फैल रही है और सभी एक दूसरेसे लड़ रहे हैं। इसलिये वे राजमहलसे ताजपुर और ताजपुरसे पूर्णिया आये। पूर्णियासे फिर अयोध्या, लखनऊ और आगरा होते हुए वे गोकुल पहुँचे, जहाँ श्रीकृष्णने बाल-लीलाएँ की थी! गोकुलसे वे वृन्दावन आये।

वृन्दावनकी दशा उन दिनों विचित्र थी। घने जंगलों और भूमिशायी अस्तव्यस्त खँडहरोंके सिवा वहाँ और कुछ भी न था। मुसलमान आक्रमणकारियोंने उसके समस्त वैभव और शोभाको धूल-में मिला दिया था। मन्दिर सब ध्वंस हो गये थे, मूर्तियाँ टूटी-फूटी पड़ी थी। वृन्दावनके निवासी भी उस पावन भूमिके इतिहासको भुला बैठे थे। पुण्यसलिला यमुना और श्रीगोवर्धन पर्वतके अतिरिक्त वहाँ श्रीकृष्णकी लीला-स्मृतिके कुछ भी चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गये थे। भूगर्भ और लोकनाथ उन खँडहरों और जंगलोंमें, जहाँ बाघ-भालू और रीछोंने डेरे डाल रक्खे थे, घूमना शुरू किया; परन्तु वे करें तो क्या करें, कुछ समझमें नहीं आता था। महाप्रभुकी आज्ञा और आदेशोंका पालन किस प्रकार हो उनके लिये यह एक पहेली ही

थी। वंशीवट कहाँ है और कहाँ हैं निधुवन, भाण्डीरवन, श्याम और राधाकुण्ड? क्या करें, कहाँ जायँ, पता लगावें तो कैसे? महाप्रभुके बिना हमें मार्ग बतावे तो कौन? चीरघाट कहाँ है और कहाँ हैं तमाल, कदम्ब और बकुलकी कुञ्जें, जहाँ महाप्रभुने हमें निवास करनेकी आज्ञा दी है? अन्ततोगत्वा निराश और हताश होकर दोनों युवकोंने सर्वतोभावसे अपने-आपको प्रभु श्रीकृष्ण और जगज्जननी श्रीराधारानीके चरणोंमें अर्पित कर दिया और—

गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे !
राधाकृष्ण, गोपीकृष्ण, श्रीकृष्ण प्यारे !!

—इन नामोंसे समस्त वनप्रान्त और खँडहरोंको मुखरित कर दिया ! एक दिन सहसा उन्हें चीरघाटका पता लग गया, जहाँ रहकर जीवनके शेषकालको व्यतीत करनेकी आज्ञा महाप्रभुने उन्हें दी थी।

वृन्दावनके लोगोंको ये दोनों युवक कुछ अजीब-से लगे। पागलोंकी तरह क्षणमें इनका रोना और क्षणमें हँसना कोई समझ न पाता। राह चलते जो भी मिल जाता उसीके चरणोंमें गिरकर वे फूट-फूटकर रोने लगते और प्रार्थना करने लगते कि मुझे श्रीहरिके दर्शन कराओ—बताओ वे कहाँ छिपे हैं? इतना ही नहीं, वे उन्मत्तकी तरह वृन्दावनकी भूमिमें लोटते, उसे चूमते और उसकी रज-को सिर-आँखोंपर रखते। बेसुध दशामें यह कहते—'तुम धन्य हो, ओ व्रजकी पावन रज ! तुम धन्य हो। श्रीहरिके कोमल-कोमल चरण तुमपर पड़े थे और यहीं उन्होंने गोपियोंके साथ, राधारानीके साथ प्रेममयी लीलाएँ की थीं। वे आज कहाँ छिप गये, ओ व्रजरज ! तुम चुप क्यों हो। बोलो न, दया करके बोलो, एक शब्द बोलो ! अरे, तुम चुप हो तो उस साँवरेका पता मुझे कौन बतलावेगा?'

धूम मच गयी, सारे वृन्दावनमें धूम मच गयी कि दो अनोखे भक्त वृन्दावनमें आये हैं। अब क्या था, भीड़ लगने लगी—दर्शनके उत्सुक भावुक जनोंकी! इन दोनोंके लिये फूसकी एक कुटिया बनानेका आग्रह होने लगा, परन्तु लोकनाथ और भूगर्भने यह निश्चय कर लिया था कि रहेंगे तो किसी वृक्षके नीचे ही। कहीं वे भिक्षाटन करने नहीं जाते, यदृच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो जाता उसीसे सन्तोष कर लेते और यमुनाका जल पी लेते।

महाप्रभुके शिष्योंमें लोकनाथ और भूगर्भ ही पहले-पहल वृन्दावन आये। सुबुद्धिराय अब भी बंगालमें ही थे और सनातन तथा रूप अब भी बंगालके मुसलिम नवाब दीवान थे। गोपाल भट्ट, अपने पिताके साथ दक्षिण भारतमें रहते थे और रघुनाथ भट्ट, रघुनाथदास और जीवगोस्वामी अभी बालक थे।

अगहनके महीनेमें लोकनाथको वृन्दावन भेजकर महाप्रभुने माघके महीनेमें संन्यास लिया। उसके अनन्तर वे दक्षिणमें दो वर्षतक तीर्थयात्रा करते रहे। दक्षिणसे लौटकर वे बंगाल आये, किन्तु गौड़तक ही आकर फिर वहाँसे नीलाचल लौट गये। वहाँसे वे वृन्दावनके लिये चल दिये और छोटानागपुरके झारखण्ड होते हुए वृन्दावन पहुँचे और वहाँ दो महीने ठहरे, परन्तु दुर्भाग्यवश वहाँ उन्हें लोकनाथ और भूगर्भ नहीं मिले।

महाप्रभुके संन्यासकी बात लोकनाथने सुनी थी। उन्होंने यह भी सुन रक्खा था कि प्रभु दक्षिणभारतमें तीर्थयात्राके लिये गये हैं। इस समाचारसे लोकनाथका धीरज छूट गया और इस कारण वे तथा भूगर्भ महाप्रभुसे मिलनेके लिये वृन्दावनसे दक्षिणभारतके

लिये चल पड़े। वहाँ पहुँचनेपर उन्हें मालूम हुआ कि महाप्रभु वृन्दावन गये हैं। जल्दी-जल्दी वे पुनः वृन्दावनकी ओर लौटे, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके वृन्दावन पहुँचनेके कुछ ही दिन पूर्व महाप्रभु वृन्दावनसे पुरीके लिये प्रस्थान कर चुके थे। लोकनाथका हृदय बैठ गया और वे सदाके लिये निराश हो गये; परन्तु स्वप्नमें महाप्रभुने दर्शन देकर लोकनाथको समझाया—'तुम इतने निराश क्यों होते हो? हिम्मत हारनेकी क्या बात है? तुमने नवद्वीपमें मेरा जो रूप देखा था, वह रूप अब नहीं है। मैं अब राहका भिखारी हूँ। तुम मुझे इस वेषमें देखोगे तो तुम्हें महान् कष्ट होगा, तुम्हारा हृदय दुखेगा। अच्छा यही है कि तुम मेरे गृही वेषका ही स्मरण करो और वही वेष तुम्हारे हृदयलोकमें बना रहे। मैं अपना यह वेष इसीलिये तुम्हें दिखलाना नहीं चाहता और इसी कारण हम-तुम मिल नहीं पाये।'

लोकनाथने अब समझा कि प्रभु किस कारण मिलनेसे बचते रहे। महाप्रभुके संन्यासी वेषकी उन्होंने अपने हृदयमें तस्वीर खींची—कल्पनासे महाप्रभुका शरीर चिथड़ोंसे ढका हुआ है—लज्जा-निवारणमात्रके लिये और हरि-हरि कहते हुए महाप्रभु बावलोंकी तरह घूम रहे हैं। इस वेषका स्मरण करते ही लोकनाथका हृदय विदीर्ण होने लगा और वे लगे फूट-फूटकर रोने। अब उन्होंने निश्चय कर लिया कि महाप्रभुकी जब यह आज्ञा है तो वे इस शरीरसे कभी उनसे नहीं मिलेंगे। अब लोकनाथ और भूगर्भने चीरघाटपर अपना डेरा जमा लिया और अन्तकालतक वे वहीं बने रहे। रात-दिन कृष्ण-कृष्णकी रट लगाये रहते और रातको बस, एक-दो घंटा सो लेते। न किसीसे कभी मिलते, न बात करते
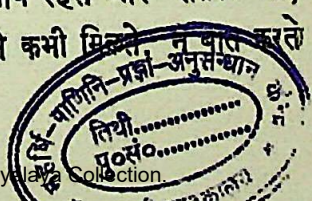
यदृच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाता उसीको भगवान्का प्रसाद समझकर ग्रहण करते। यदि किसी दिन कुछ नहीं मिलता तो हरिका नाम लेकर सहर्ष उपवास करते।

लोकनाथने अपने जीवनके शेष दिन वृन्दावनमें ही भजनमें व्यतीत कर दिये और भगवान्के नामका आधार लेकर, संसारकी सभी बातोंसे तटस्थ रहते हुए, एक आदर्श भक्तका, एक आदर्श प्रेमीका और एक आदर्श विरहीका जीवन—जिस जीवनमें अखण्ड और अबाध स्मरणका रस है, वह जीवन जिसमें प्रभुकी करुणा और प्रीति है और जो उनकी एकमात्र कृपासे ही प्राप्त होता है—ऐसा अनमोल जीवन उस वृन्दावनकी मधुमय पावन भूमिमें व्यतीत कर दिया।

'श्रीचैतन्यचरितामृत' के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराज अपने ग्रन्थके प्रणयनके पूर्व लोकनाथ गोस्वामीके चरणोंमें आशीर्वादके लिये आये थे। उन दिनों वृन्दावनमें महाप्रभुके सबसे वृद्ध शिष्य लोकनाथ ही थे। लोकनाथ अपने भजनमें इतने अधिक व्यस्त रहते थे कि बात करनेका उन्हें अवसर ही नहीं मिलता था। जब श्रीकृष्णदासने श्रीचैतन्यचरितामृतका प्रस्ताव रखकर आशीर्वादका प्रसाद माँगा तो लोकनाथने उसके लिये सहर्ष हाँ भरते हुए यह कहा कि लिखो, अवश्य लिखो; परन्तु मेरी एक शर्त रहेगी—वह यह कि इस ग्रन्थमें मेरी कहीं भी चर्चा न आवे और न मेरे तथा महाप्रभुके सम्बन्धकी ही। इतनी मूक और निरीह उपासना थी लोकनाथ गोस्वामीकी!

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भक्त लोचनदास

बंगालके बर्दवान जिलेमें कोग्राम नामक स्थान भक्तवर श्रीलोचनदासजीकी जन्म-भूमि थी। इनके पिताका नाम कमलाकर और माताका नाम सर्वानन्दीदेवी था। घर सम्पन्न था। लोचनदास अपने माता-पिताकी एकमात्र सन्तान थे और उनका ननिहाल भी उसी गाँवमें होनेके कारण वृद्ध नाना-नानी भी उनको बहुत ही प्यार करते थे। इस प्यार-दुलारके कारण लोचनदासका बाल्यजीवन प्रायः हँसने-खेलनेमें ही बीता, उन्हें पढ़ने-लिखनेका विशेष अवसर नहीं मिला।

घरमें सम्पन्न होने और माता-पिता तथा नाना-नानीके परम स्नेहसे सदा पले होनेपर भी लोचनदासका मन किसी पूर्वसंस्कार-वश विषयोंमें नहीं लगता था। वह खेलनेमें मिट्टीके महल बनाते और फिर उन्हें बिगाड़कर कहते, 'देखो, यह संसार भी ऐसा ही है। आज है, कल नहीं।' वास्तवमें बात भी यही है। बच्चोंके मिट्टीके बने घरोंको बनते-बिगड़ते देखकर माता-पिता हँसते हैं और बच्चोंको उस खेलमें निमग्न देखकर और बीच-बीचमें खेलमें ही उन मिट्टीके महलोंके लिये लड़ते-झगड़ते तथा रोते-हँसते देखकर बड़ी उम्रके

लोग उन्हें मूर्ख मानते हैं, परन्तु अपनी दशापर विचार नहीं करते। संसारके सब जड पदार्थ मिट्टीके ही तो हैं। पार्थिव पदार्थोंमें कौन-सा दूसरी चीजसे बना है? हीरे-मोती, सोना-चाँदी, महल-मन्दिर, मोटर-विमान, मेवा-मिश्री सब मिट्टीसे ही तो बने हैं। हम बच्चोंपर हँसते हैं, उन्हें मूर्ख मानकर कोसते हैं, परन्तु खुद इन्हीं मिट्टीकी चीजोंके संग्रह और भोगके लिये दिन-रात भटकते रहते हैं, प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, दूसरे मनुष्योंसे वैर बाँधते हैं। इन मिट्टीके पदार्थोंके लिये तो इतने कारखाने बने हैं। मिट्टीके पदार्थोंके लिये ही लड़ाई लड़नेको ये कोर्ट-कचहरियाँ बनी हैं। खुद मिट्टीके पुतले हम मिट्टीकी बनी वस्तुओंपर पागल हो रहे हैं। जैसे बच्चोंका मिट्टीका महल पलक मारते-मारते ढह जाता है, ऐसे ही हमारे ये सब पदार्थ भी नष्ट हो जायँगे। अस्तु।

लोचनदासके पिता-माताको पौत्रका मुख देखनेकी इच्छा हुई इसलिये उन्होंने ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही लोचनदासका विवाह करना चाहा। लोचनदासने बहुत मने किया, परन्तु आखिर माता-पिताकी आज्ञाके सामने सिर झुकाकर उन्होंने विवाह कर लिया। साक्षात् लक्ष्मी-जैसी बहूका मुख देखकर लोचनदासके माता-पिताको बड़ी खुशी हुई, परन्तु लोचनदासका मन इधर नहीं फिरा, उनकी मनोवृत्ति जहाँ लगी थी, वहाँसे नहीं हट सकी।

श्रीखण्ड नामक स्थानमें श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके भक्त पण्डित-प्रवर नरहरिजी महाराज निवास करते थे। वे जैसे प्रेमी भक्त थे वैसे ही सर्वशास्त्रोंके ज्ञाता विद्वान् भी थे। उस समय श्रीखण्डमें रास हुआ

करता था। दूर-दूरसे भक्तलोग आकर रासोत्सवमें सम्मिलित हुआ करते। लोचनदास भी गाँवके कुछ बालकोंके साथ श्रीखण्ड गये और वहाँ भक्तवर श्रीनरहरिजीके सत्संगसे लाभ उठाने लगे। लोचनदासजी श्रीनरहरिजीसे दीक्षा लेकर उनके शिष्य हो गये। उनकी रही-सही सारी आसक्ति नष्ट हो गयी। उनका वैराग्य श्रीकृष्णानुरागके रूपमें बदल गया। वस्तुतः वैराग्यवान् पुरुष ही श्रीकृष्णप्रेमके प्रकृत अधिकारी हैं। संसारके भोगोंमें आसक्त विषयी मनुष्योंको श्रीकृष्णका योगिजनदुर्लभ प्रेम क्यों प्राप्त होने लगा।

लोचनदास वहीं रह गये और बड़ी तेजीके साथ साधनके पथ-पर अग्रसर होने लगे। वे माता-पिता, बालिका, पत्नी, गाँव-घर, बन्धु-बान्धव सबको भूलकर श्रीभगवान्के प्रेममें निमग्न हो गये। सद्गुरु नरहरिजी भी अधिकारी शिष्यकी उन्नतिमें दत्तचित्त हो गये।

श्रीनरहरिजी बहुत प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित विद्वान् थे। लड़का उनका शिष्य हो गया, यह सुनकर कमलाकर और सर्वानन्दीको बहुत आनन्द हुआ, परन्तु वे उसे घर लाना चाहते थे। कारण, बहू अब पूर्ण युवती हो गयी थी। उसकी उम्र सोलहको पार कर रही थी। आठ वर्ष पहले विवाहके समय उसने पतिका मुख देखा था। उसके बाद द्विरागमन (गौना) न होनेतक वह नैहरमें रही और जब ससुराल आयी तो पतिको वहाँ नहीं पा सकी। न इतने लंबे समयमें पतिने उसको कोई सन्देशा भेजा और न उसकी कोई खबर ही ली। इससे उसकी मानसिक वेदना बहुत ही बढ़ गयी थी। वह सदा उदास रहा करती और रातको एकान्तमें आँसुओंकी

तप्त धारासे मुँहको धोकर हृदयको कुछ शीतल करनेका प्रयास करती। पुत्रवधूकी यह दशा देख-सुनकर लोचनदासके पिता-माताको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने उसे सान्त्वनाप्राप्तिके लिये नैहर भेज दिया और कमलाकरने पण्डित नरहरिजीके पास जाकर सारी स्थिति उनको समझायी। नरहरिजीका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने लोचनदासको बहुत समझाया-बुझाया और न माननेपर अन्तमें जोर देकर उन्हें आमोदपुर नामक गाँवमें ससुराल भेजा।

लोचनदास गुरु-आज्ञाको सिर चढ़ाकर आमोदपुर पहुँचे। बहुत दिन पहले आये थे, इससे उन्हें ससुरालका घर याद नहीं था। विधाताका विधान कुछ और ही था। गाँवमें घुसते ही उन्हें एक सुन्दरी युवती मिली। उन्होंने बड़े ही विनीतभावसे उससे पूछा—'माताजी! अमुकका घर कहाँ है, किस रास्ते होकर जानेसे मैं वहाँ पहुँच सकूँगा?' युवती एक बार उनकी ओर देखकर और अँगुलीके इशारेसे उन्हें एक तंग गलीका रास्ता दिखाकर सिर नीचा किये अपने रास्ते चली गयी। लोचनदास ससुराल पहुँचे।

बहुत दिनों बाद वैरागी जवाँईको घर आया देखकर लोचनदासजीके सास-ससुरके आनन्दका पार नहीं रहा। स्वागत-सत्कार, कुशल-प्रश्न आदिके बाद स्नान-भोजन हुआ। रात तो हो ही गयी थी; लोचनदास सासकी आज्ञासे एक कोठरीमें घुसे और जाकर देखते हैं तो वहाँ वही युवती खड़ी है जिससे उन्होंने रास्ता पूछा था और 'माताजी' कहकर सम्बोधन किया था। युवतीने भी समझा कि वह अपरिचित मुसाफिर ही मेरे हृदयका आराध्य देव

है। पतिके मुखसे निकला हुआ 'माताजी' शब्द याद आते ही धर्मभीरु तरुणी काँप गयी, उसका मुख मलिन हो गया, विषादकी छाया प्रत्यक्षरूपसे उसके मुखपर दिखलायी देने लगी और थोड़ी ही देरमें हृदयका वह दुःख उसके नयनोंसे मोतियोंकी असंख्य बूँदोंके रूपमें झरने लगा। युवती साड़ीके आँचलसे आँखें पोंछकर दूर हट गयी। लोचनदास भी सब कुछ समझ गये। युवती पत्नीकी करुण दशा देखकर दयार्द्र लोचनदासका हृदय विदीर्ण हो गया। उनके मुखसे एक शब्द निकलना भी दूभर हो गया।

समयकी गति कभी नहीं रुकती। रात प्रायः बीत गयी, परन्तु अभीतक पति-पत्नी दोनों चुप हैं और दोनोंकी आँखोंसे आँसूकी झड़ी लग रही है। निशानाथको अस्ताचलकी ओर जाते देख, सूर्यदेवकी अगवानी करनेके लिये अरुणोज्ज्वल वस्त्रोंसे तन ढाँककर उषादेवी पधारीं। अब लोचनदासकी जबान खुली। धर्मभीरु लोचनदासने विधाताका अनिवार्य विधान बतलाकर पत्नीको समझाया। उसने गद्गद कण्ठसे कहा—'स्वामिन्! मेरे तो आप ही आराध्य देव हैं। आपको छोड़कर मैं दूसरे किसी ईश्वरको नहीं जानती। मैंने तो सोते-जागते सदा-सर्वदा आपका ही चिन्तन किया है। मैं भोगकी भूखी नहीं हूँ, मुझे आपका शरीर नहीं चाहिये। मैं तो हृदय चाहती हूँ। मैं नहीं चाहती कि आपने जिसको 'माँ' कह दिया उसके साथ पत्नीका-सा बर्ताव करके धर्मपथसे च्युत हों। मेरी तो बस, यह एक ही प्रार्थना है कि मुझे आप सदा अपने साथ रक्खें। आपको स्पर्श करनेका मेरा अधिकार न रहनेपर भी सेवा

करनेका तो अधिकार है ही। आप निश्चय रक्खें, मैं कामकी दासी नहीं हूँ। मैं तो प्रेमकी भूखी हूँ। ईश्वर आपके और मेरे पवित्र व्रतको निबाहेंगे। आप कोई सन्देह न करें।' इस प्रकार स्वामीके चरणप्रान्तमें बैठी हुई सती न मालूम कितनी बातें कह गयी; परंतु उसकी बातोंमें कहीं भी न कातरता थी, न कामलोलुपता, न विषाद, न अधीरता और न भोगवासना। थी केवल एक साथ रहनेकी इच्छा—प्रार्थना जिसको लोचनदासने स्वीकार किया। पवित्र शील-व्रतको धारण कर दोनों पति-पत्नी परमात्माके मार्गपर चलनेके लिये सूर्योदयसे पूर्व ही वहाँसे चल पड़े।

अहा! कैसा ऊँचा भाव है। एक बार भूलसे भी जिसको 'माँ' कह दिया, विवाहिता पत्नी होनेपर हृदयको कठोर करके उसके साथ पत्नीका-सा व्यवहार त्याग देना और पत्नीका इस बातको सहर्ष स्वीकार कर लेना कितनी धर्मप्रियता है। कहाँ वह पुण्यकाल और कहाँ आजका इन्द्रियोंकी गुलामीसे सना हुआ लम्पटता और विषयवासनायुक्त व्यभिचारपूर्ण गन्दा जमाना।

पिता-माताकी मृत्युके बाद लोचनदास अपनी सारी धन-दौलत गरीबोंको बाँटकर ग्रामके बाहर एक पर्णकुटी बनाकर सती पत्नीके साथ वहीं रहकर भगवद्भजन करने लगे। दोनोंकी जवान उम्र थी और दोनों रात-दिन पास रहते थे, परन्तु उनका व्रत सदा अटल रहा। वे कभी आत्मविस्मृत नहीं हुए। वे धर्मपथसे कभी एक पैंड भी नहीं डिगे। भगवत्प्रेममें दोनों ही मस्त रहते थे। लोचनदासजी-का श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुके चरणोंमें प्रगाढ़ प्रेम था। इसीसे उन्होंने

श्रीचैतन्यलीलाका वर्णन करनेकी इच्छासे 'चैतन्यमङ्गल' नामक बङ्गला महाकाव्यकी रचना की।

लोचनदासजी कुटियामें बैठे-बैठे एकान्तमें 'चैतन्यमङ्गल'का गान करते और सती पत्नी पास बैठी हुई एकाग्र मनसे हर्षाश्रु बहाती हुई सुनती। कभी-कभी वह भी भावावेशमें साथ-साथ गाने लगती। इस प्रकार युवती पत्नी लोचनदासकी साधनसङ्गिनी बन गयी। उनका दाम्पत्य प्रेम श्रीकृष्णप्रेमके रूपमें परिणत हो गया—और उस प्रेमकी सुधाधारा विश्वको पावन करने लगी। लोचनदास-का चित्त आनन्दसे भर गया। उनका ग्रन्थ 'चैतन्यमङ्गल' वैष्णवोंकी परम प्रिय और बहुमूल्य सम्पत्ति है। उसमें श्रीश्रीचैतन्यदेवकी प्रायः सभी लीलाओंका बड़ी ही मधुर भाषा और सुन्दर भावोंमें वर्णन किया है। इसके सिवा लोचनदासजीने 'दुर्लभसार', 'वस्तु-तत्त्वसार', 'आनन्दलतिका', 'प्रार्थना', 'श्रीचैतन्यप्रेमविलास', 'देहनिरूपण' और 'रागलहरी' नामक सात ग्रन्थोंकी और भी रचना की थी। ये सातों ही वैष्णवोंके प्रिय ग्रन्थ हैं। उनका सारा जीवन भजन-कीर्तन और ग्रन्थनिर्माणमें ही बीता। ६६ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६४५ वि० में पौष मासमें उनका भगवत्-स्मरण करते-करते ही देहावसान हुआ। कोग्राममें कुनुई नदीके तीरपर उनकी समाधि बनी है। लोचनदासजीकी पत्नीका भी समस्त जीवन भगवद्भजनमें ही बीता।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त मुरारिदास

हो रसिया, मैं तो सरन तिहारी।
नहिं साधन बल बचन चातुरी॥

एक भरोसो चरन गिरिधारी।
कड़ुइ तुँवरिया मैं तो नीच भूमि की,
गुनसागर पिया तुमहि सँवारी॥

मैं अति दीन बालक तुम सरने।
नाथ न दीजे अनाथ बिसारी॥

निज जन जानि सँभारोगे प्रीतम,
प्रेमसखी नित जाउँ बलिहारी॥

मध्यप्रान्त-छत्तीसगढ़ परगनेके बिलौदाँ गाँवके पास एक टूटे हुए मन्दिरकी सीढ़ियोंपर एक पागल-सा लड़का बड़े ही मधुर स्वरमें भैरवीकी तान अलाप रहा है। प्रातःकालका समय है। अभी उषा गगनाङ्गनमें अरुणसे आँखमिचौनी खेल रही है। पक्षियोंकी चह-चह-से सारा बगीचा गहगहा रहा है और बगीचेके पास ही एक जीर्ण-शीर्ण बहुत पुराना मन्दिर है, जिसके जगमोहनमें पीपल और पाकरके पेड़ उग आये हैं। चिड़ियोंने घोंसले बना रक्खे हैं और गिलहरियाँ स्वच्छन्द विचरण कर रही हैं। ऐसी सुनसानमें कोई विरही अपनी धुनमें अलमस्त गा रहा है; आप ही गा रहा है, आप ही सुन रहा है—

हो रसिया, मैं तो सरन तिहारी!

× × × ×

लगभग तीन सौ वर्ष पूर्वकी यह बात है, परन्तु लगती है जैसे कलकी हो। एक अत्यन्त अकिञ्चन ब्राह्मणके घर मुरारीका जन्म हुआ। इस कंगाल, निरीह परिवारमें इतना सुन्दर-सुघड़, इतना स्वस्थ और प्रसन्न बालक अबतक हुआ ही न था। जैसे यशोदाका लाल हो। ऐसे सुन्दर बच्चेको पाकर माता-पिताके घर मानो कञ्चन-को मेह बरस गया—ऐसा मालूम होता था मानो उन्होंने जो कुछ पाना था सब पा लिया। मुरारीको गोदमें लेकर माँ लोरियाँ सुनाती और वह लोरी भी कितनी प्यारी-प्यारी! माताके आनन्दका कोई ठिकाना न था। वह गरीबनी लोक-परलोक सब कुछ भुलाकर अपने प्राणाधारको दुलराया करती। और हर समय मीठे-मीठे गीत सुनाकर बालकका मन बहलाती। प्रातःकाल जगाते समय, भोजन कराते समय, चोटी गूँथते समय, नहलाते समय, सुलाते समय-जब देखिये वह कोई-न-कोई गीत गाकर अपने प्यारे शिशुको रिझाती रहती। इस प्रकार मुरारीको सङ्गीतका रस माताके दूधके साथ मिला था। प्रायः जब वह गाय चराने जाता तो अपने संगी-साथियोंमें बैठकर मातासे सुने हुए गीत गाया करता। देखनेमें सुन्दर था ही, वाणी भी बड़ी ही लोचभरी और मधुर थी। इस कारण उसे जो देखता वही प्यार करने लगता। जिधरसे निकलता, दस-पाँच साथ लग जाते। गाँवकी स्त्रियाँ और बच्चे उसे प्राणोंसे भी अधिक चाहते थे, वह जहाँ कहीं मिलता उससे गाँवकी स्त्रियाँ आरजू करतीं— 'हाँ मुरारी भैया! वह गीत एक बार सुना तो दो, तुम्हें हम माखन-मिसरी खिलायेंगी।' उनका कहना था कि मुरारी तान छेड़ देता—

भाग गयो मेरो भाजन फोर।
कहा री कहूँ ? सुन, मात जसोदा, और माखन खायो सब चोर ॥
लरिका पाँच सात सँग लीने, रोके रहत साँकरी खोर।
मारग में कोउ चलन न पावत, लेत हाथ ते दूध मरोर ॥
समझ न परत याहि ढोटा की, रात दिवस रहै गोरस ढँढोर।
आनंदे फिरत फाग सों खेलत, तारी देत हँसत मुख मोर ॥
सुंदर स्याम रँगीलो ढोटा, सब ब्रज बाँध्यो प्रेम की डोर।
परमानंद सयानी ग्वालिन लेत वलैयाँ अंचर छोर ॥

गाँवकी ग्वालिनें इसी गीतको बार-बार सुनतीं। उन्हें ऐसा लगता मानो उनका यह परम प्यारा मुरारी वस्तुतः वही मुरारी था जिसने बाँसुरी बजा-बजाकर गोपियोंको मनमाना नाच नचाया था। वे अपने आनन्दरसके लिये कभी-कभी मुरारीको पीली रेशमी धोती पहना देतीं, नीचेतक लटकती हुई वनमाला गलेमें डाल देतीं, बड़े-बड़े बालोंकी कबरी बाँधकर उसमें मोरकी पाँख खोंस देतीं और हाथमें एक लकुटिया और मुरली दे देतीं। मुरारीको बड़ी-बड़ी आँखें और साँवले मुखड़ेको वे जब काजल और चन्दनकी खौरसे सजा देतीं तो सचमुच वह त्रिभुवनमोहन श्यामसुन्दर-सा सलोना लगने लगता। इसपर जब वे उसके पैरोंमें घुँघुरू बाँध देतीं और उसे ताली दे-देकर नचाने लगतीं तब तो कुछ और ही समाँ बँध जाता था।

परन्तु यह रास-रंग अधिक दिन चल न सका। चलता कैसे? जिसे प्रभु अपनानेको होते हैं, उसे बलात् अपनी ओर खींच लेते हैं और उसके सारे सम्बन्धको क्षीण और शिथिल कर देते हैं। पहले पिताका देहान्त हुआ, कुछ दिन बाद माँने भी साथ छोड़ दिया। अन्तिम समय माँने प्यारसे मुरारीको छातीसे लगा लिया और

उसके गालोंको चूमती हुई आँसूभरे शब्दोंमें बोली—'मैं जा रही हूँ, वहीं जा रही हूँ जहाँ सबको एक-न-एक दिन जाना है। कोई रोते हुए जाता है, कोई हँसते-हँसते। मैं हँसते-हँसते जाती हूँ; क्योंकि मैंने तुम्हारे हृदयमें श्रीकृष्णप्रेमकी लता रोप दी है, उसे सींचकर पल्लवित-पुष्पित कर दिया है और मैं देख रही हूँ वह लता तुम्हारे हृदयमें लहलहा उठी है! जो सबकी सँभाल रखते हैं, वे ही तुम्हारी भी सँभाल रक्खेंगे—मैं नाहक चिन्ता क्यों करूँ? तुम जहाँ रहो, प्रभुके प्रेममें छके रहो—यही मेरा अन्तिम आशीर्वाद है। भगवान् तुम्हारा सब प्रकार मङ्गल करें.....................।'

माताके चले जानेके बाद मुरारीको वह घर काटने-सा लगा। बार-बार उसके हृदयमें माँके स्नेहकी स्मृति उमड़ आती। ऐसा मालूम होता मानो माँ साक्षात् उसके सामने खड़ी है और कह रही है—'मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ गयी हूँ? तुम्हारे हृदयमें जो प्रेमकी लता लहलहा उठी है, मैं उस लताकी छायामें बहुत सुखसे सो रही हूँ।' माताकी एक-एक बात मुरारीको याद आती और उस यादमें वह विह्वल हो उठता। ऐसी दशामें वह प्रायः गाँवसे बाहर जाकर उस टूटे हुए मन्दिरकी सीढ़ियोंपर बैठकर जो जीमें आता गुनगुनाया करता।

चारों ओरसे अपनेको सर्वथा अनाथ और आश्रयहीन पाकर मुरारीके मनमें गाँव छोड़ देनेकी बात प्रायः आया करती। वह सोचता, यहाँ अब रक्खा ही क्या है जो मैं रहूँ! एक माँ थी, उसने भी साथ छोड़ दिया; अब यहाँ किसके लिये रहना है? परन्तु

मुरारी जब कभी मन्दिरके पास जा बैठता तो उसे बड़ी शान्ति मिलती। इसलिये वह अधिकाधिक मन्दिरके पास ही रहता। गाँवकी स्त्रियाँ उससे स्नेह करतीं, उसपर दया रखतीं; परन्तु स्वयं मुरारीका चित्त उचट गया था। कभी-कभी अपने घरसे कुछ भोजन लाकर कोई माता मुरारीको खिला जाती, उसे प्यार करती, पुचकारती और कहती—'बेटा! तुम्हारी माँ नहीं है तो क्या हुआ, हम सभी तो तुम्हारी माताएँ ही हैं, तुम इतना बिलग क्यों मानते हो?' मुरारी कुछ भी नहीं बोलता, मन मारकर रह जाता।

एक बार लगातार तीन दिनतक मुरारीको कुछ भी खानेको न मिला। न किसीने उससे पूछा, न वह स्वयं किसीके यहाँ गया ही। भूख-प्याससे प्राण व्याकुल थे, परन्तु फिर भी उसके मनमें यह बात नहीं आयी कि गाँवमें जाकर किसीके यहाँ कुछ खा लूँ। आधी रात बीत चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था, परन्तु मुरारीके हृदयकी वही दशा हो रही थी जो पानी सूख जानेपर तालाबकी होती है। बेजार होकर मुरारी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा—

बिसर न जाओ मेरे मीत। यह बर माँगूँ मैं नीत॥
मैं मतिमंद कछू नहिं जानूँ, नहिं कछु तुम सँग हीत।
बाँह गहे की लाज है तुमको, तुम सँग मेरी जीत॥
तुम रीझो ऐसो गुन नाहीं, अवगुन की हूँ भीत।
अवगुन जानि बिसारोगे जीवन, होऊँगी मैं बहुत फजीत॥
मेरे दृढ़ भरोसो जिय में, तजिहौ न मोहन प्रीत।
जन अवगुन प्रभु मानत नाहीं, यह पूरब की रीत॥
दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ, गाऊँ निस दिन गीत।
प्रेमसखी समझूँ नहिं ऊँडी, एक भरोसो चीत॥

आज मुरारी जानता था कि मेरा यह अन्तिम सङ्गीत है और प्रभुके चरणोंमें मेरी यह आखिरी भेंट है। आज उसका स्वर लड़खड़ा रहा था—आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी, प्राण छटपटा रहे थे। इस जनाकीर्ण जगतीमें वह अपनेको सर्वथा एकाकी पा रहा था, जिसके आगे-पीछे कोई भी न हो; परन्तु जिसका कोई नहीं होता, उसके प्रभु होते हैं।

मुरारी गीत पूरा नहीं कर पाया था, लड़खड़ाकर बीचहीमें बेहोश होकर गिर पड़ा और बार-बार एक ही पंक्ति 'तजिहा न मोहन प्रीत'—बस, यही गुनगुनाने लगा। इतनेमें वह देखता क्या है कि उस जीर्ण शीर्ण मन्दिरसे कोई देवी सुन्दर वस्त्राभरणोंसे सुसज्जित, त्रैलोक्यसुन्दरी, जग-जगमोहिनी यकायक निकली। एक हाथमें नाना व्यञ्जनोंसे भरा हुआ सोनेका थाल और दूसरे हाथमें शीतल जलसे भरी हुई चमचमाती हुई झारी। उसने मुरारीके सिरको गोदमें रखकर कहा, 'बेटा! जिसकी कोई भी सुध लेनेवाला नहीं होता, उसकी सुध मैं लेती हूँ। सारा संसार मेरी सन्तान है। सबके लिये मेरे हृदयमें अपार प्रीति और व्यथा है। मैं किसीकी उपेक्षा करूँ, यह कैसे हो सकता है? तुम्हारा दुःख देखकर मैं रो पड़ी। उठो, भोजन करो।' मुरारी समझ नहीं रहा है कि यह सब क्या हो रहा है। वह अब भी अर्धचेतन दशामें है। माता अपने हाथोंसे उसे खिलाने लगी। खिला-पिलाकर माँने प्यारसे उसके सिरको सहलाया। मुरारी माताकी गोदमें सिर रखकर बेखबर सो गया। दूसरे दिन उसकी नींद खुली तो दिन निकल आया था, लोगोंका चलना शुरू हो गया था। गायें चरनेके लिये छूट चुकी थीं, पक्षी अपने-अपने घोंसलोंमेंसे बाहर निकलकर आहारकी खोजमें उड़ गये थे।

जागनेपर मुरारीकी दशा एक विक्षिप्तकी-सी हो गयी। रातकी बात वह सोचता और बुक्का फाड़-फाड़कर रोता। घंटों रोया करता। कई दिनतक ऐसा ही चला। अब कुछ होश हुआ तो एक अजीब सनक सूझी। जो भी मिल जाता उसीके चरणोंमें गिरता, 'माँ माँ' पुकारता और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उसकी चरणरज सिर-आँखोंपर लगाता। राह चलनेवाला ब्राह्मण हो या चाण्डाल, मुरारीके लिये सभी थे साक्षात् जगज्जननी राधारानी ही। धीरे-धीरे बात फैल गयी और वहाँके नरेशको मुरारीकी सारी कहानी मालूम हुई। उसने उसे पकड़ मँगाया और उसके इस अनाचारपर उसे देश-निर्वासनका दण्ड दिया। मुरारीको अब किसी देशसे क्या मतलब था? उसके लिये तो सभी भूमि गोपालकी हो चुकी थी। उसने पूरी मस्तीमें आकर राजाको एक दर्दभरा गीत सुनाया—

कमलमुख देखत तृप्ति न होय।
यह सुख कहा सुहागिन जानै, रही निसा भर सोय॥
ज्यों चकोर चाहत उडुराजै, चंदवदन रही जोय।
नेक अकोर देत नहिं राधा, चाहत पियहि निचोय॥
उन तौ सपनो सर्वस दीनो, एक प्रान बपु दोय।
भजन भेद न्यारो परमानँद जानत बिरलो कोय॥

मुरारीको अब कुछ भी कहना-सुनना नहीं था। क्या कहता उनके हृदयमें तो 'एक' ही रम रहा था, दूसरा कोई था ही नहीं कि कुछ कहे-सुने। वैष्णवोंमें जो जातिभेद करते हैं, पीपल और तुलसीको जो वृक्ष मानते हैं, शालग्रामको जो शिला मानते हैं, वे घोर पातकके भागी होते हैं। मुरारी छत्तीसगढ़को नमस्कारकर पाँव-

पयादे चल पड़ा और कई महीने बाद वृन्दावन—अपने प्यारेके देशमें पहुँचा। वहाँ उसका एकमात्र काम था यमुनाके किनारे-किनारे घूमना, कभी नाचना, कभी गाना, कभी यों ही खिलखिलाकर हँसना और फिर तुरंत दहाड़ मारकर रोना।

यों मिले इश्क़में मिटकर मुझे हासिल मेरा,
ज़र्रः ज़र्रः तेरे कूचेका बने दिल मेरा।

ऐसा ही होता है। प्रेमका नशा प्रेमी ही जानता है। प्रेमी अपने प्यारेके चरणोंमें त्रिभुवनको निछावर कर देता है—लोक-परलोकको लुटा देता है। इश्क़का हाल किसी आशिक़से पूछिये। जलनेका मजा परवानासे पूछिये। मुरारीको दुनिया पागल कहती, परन्तु उस पागलपनका शरूर कैसा होता है दुनिया क्या जाने? यह पागलपन किसी खुशनसीबको ही कभी मयस्सर होता है।

मुरारीने 'पुरानी प्रीत' के अनुसार वृन्दावनके एक-एक स्थानको पहचान लिया और पहचाना उस मधुवनमें लीला करनेवाले-की पदध्वनिको। भक्तोंके लिये भगवान् कहीं दूर थोड़े हैं? जहाँ हृदयका पट खुला कि भीतर-बाहर 'वही वह' रह जाते हैं।

मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो मिलता ही नहीं। कदाचित् किसीको मिल भी जाय तो उसे प्रेमका सारभूत विरह नहीं प्राप्त होता। यदि किसीको विरह भी प्राप्त हो जाय तो फिर वह जीवित तो कदापि रह ही नहीं सकता। विरहकी अग्नि जब धधक उठती है तो मनुष्यको कुछ भी सुहाता नहीं। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। मन और इन्द्रियाँ सब चेष्टारहित होकर

निश्चल हो जाती हैं। यह स्तम्भकी दशा है, शरीरमें एक अजीव तरहकी मीठी गुदगुदी, कँपकँपी होने लगती है और फिर शरीर पसीनेसे लथपथ हो जाता है। अनायास आँखोंसे गङ्गा-यमुना बह चलती हैं। रोनेमें एक अपूर्व सुख मिलता है। मुखसे स्पष्ट अक्षर नहीं निकलते, वाणी लड़खड़ाने लगती है, कण्ठ गद्‌गद हो जाता है। मुखपर एक प्रकारकी उदासी, पीलापन छा जाता है, आकृति कुछ-की-कुछ हो जाती है। शरीरके सभी अङ्ग पुलकित हो उठते हैं और फिर ऐसी वेहोशी आती है कि प्रेमी लोक-परलोकसे बेखबर होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है। विरहके इस अलौकिक आनन्दमें छका हुआ मुरारी यमुनाके किनारे-किनारे अलमस्त डोल रहा है। जो भी उसे देखता है, वही प्रेमकी उमड़ती हुई लहरोंमें बह जाता है। यह है प्रेमका दिव्य प्रभाव!

परन्तु यहाँ मुरारीके जानेके बाद छत्तीसगढ़-नरेशकी दशा विचित्र हो गयी। राजमदमें चूर उन्होंने मुरारीको निर्वासित तो कर दिया, पर जब होश ठिकाने आया तब वे स्वयं अपने अपराधोंके लिये ग्लानिमें गलने लगे। यह पश्चात्ताप भी कितनी सुन्दर वस्तु है! पत्थरको मोम बना देता है। राजा अन्तःपुरमें बिलख-बिलखकर रोने लगे—'हाय! मैंने संत-अवज्ञा की, मैंने भगवान्‌का अपमान किया। अपना अपमान तो भगवान् सह लेते हैं, परन्तु अपने भक्तका अपमान उनके लिये सर्वथा असह्य होता है। यदि संत मुरारीको मैं लौटा न लाया तो मेरा और मेरे परिवार तथा राज्यका शीघ्र ही महान् अनिष्ट हो सकता है। मैं भगवान्‌के सामने क्या मुँह

दिखलाऊँगा !' इस प्रकार उन्हें रोते-बिलखते देख रानीने बहुत समझाया-बुझाया और दूसरे दिन राजा अपनी रानी तथा सामन्तोंके साथ मुरारीदासको मनाने वृन्दावनको चल दिये। वृन्दावन पहुँचकर राजाने पता चलवाया। मुरारीका नाम तो कोई जानता न था, परन्तु लोगोंने यह बतलाया कि यमुनाकिनारे एक पागल अलमस्त घूमा करता है—कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी गाता है, कभी नाचता है। किसीसे न कोई बात करता है, न कभी किसी-की ओर देखता ही है। अपनी ही धुनमें मस्त रहता है, जो कुछ मिल गया खा लिया, जहाँ जीमें आया सो गया। न ऊधोका लेना, न माधोका देना।

राजा समझ गये—हो न हो, वह मुरारीदास ही होगा; वे नंगे पैर ही यमुनाकी ओर चल पड़े। जेठकी दुपहरी! चिलबिलाती हुई धूप और आग बरसाती हुई लू। राजा अपने मन्त्री तथा रानीके साथ यमुनाके किनारे-किनारे घूम रहे हैं—संत मुरारीदासकी टोहमें। देखते क्या हैं कि दूर—बहुत दूर, मुरारीदास यमुनाजीके किनारे तपती हुई बालूपर नृत्य कर रहे हैं—शरीरका कुछ भी होश-हवास नहीं है, नाचते जा रहे हैं, जो मनमें आता है गाते जाते हैं! थोड़ी देरमें क्या देखते हैं कि नाचना-गाना बंदकर मुरारीदास यमुनाजलमें किलोलें कर रहे हैं—ठीक जैसे माँकी गोदमें नन्हा-सा शिशु खेल रहा हो। घंटों पानीमें ही तैरते और किलकारियाँ छोड़ते रहे। राजाने घाटके पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और अपने अपराधोंके लिये गिड़गिड़ाकर क्षमा-याचना की।

परन्तु संतोंको किसीका अपराध स्मरण ही कहाँ रहता है? उनका स्वभाव तो एक अबोध शिशुका-सा हो जाता है—जिसमें न काम है, न क्रोध है, न द्वेष है, न ईर्ष्या, न मोह है, न आसक्ति है। मुरारीदासने राजाकी ओर एक बार देखा और फिर जोरसे ठहाका लगाकर हँस पड़े। राजाको ऐसा मालूम हुआ मुरारीदास उन्हें पहचान ही नहीं रहे हैं। वस्तुतः मुरारीदास उन्हें अब पहचान नहीं रहे थे। उनके लिये तो सब कुछ श्रीवासुदेव हो चुका था। राजाने छत्तीसगढ़ लौट चलनेकी बहुत-बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु अब मुरारीदासको छत्तीसगढ़से क्या करना था! वे तो स्वधाम, अपने प्राणप्यारेके धाममें आ चुके थे, अब यहाँसे लौटना क्या? उन्मत्तकी-सी इस अवस्थामें उनके लिये अब कहीं भी आने-जानेका प्रश्न ही नहीं रह गया था! आखिर राजाका मन कैसे मानता? उन्हें तो अपने कियेपर गहरी ग्लानि हो रही थी। उन्होंने पालकी मँगवायी। बलात् मुरारीदासको उसमें बिठाकर छत्तीसगढ़की ओर लिवा चले। महाराज स्वयं उस पालकीमें लगे और रानी तथा सामन्तोंको भी लगाया। मुरारीदास जा तो रहे थे, परन्तु उनके मनमें वृन्दावन छूटनेकी कलक अवश्य थी।

दो महीने रास्तेमें लग गये। छत्तीसगढ़ पहुँचकर राजाने बहुत बड़ा उत्सव समारोह किया। राज्यभरके ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र तथा मुहरें बाँटीं। साधु-महात्माओंका अभ्यागत किया और उनकी चरण-धूलिमें अभिषेक किया। मुरारीदासके लौटनेपर मानो छत्तीसगढ़में नवीन प्राण, नवीन चेतनाकी स्फूर्ति हो आयी। सर्वत्र आनन्द-मङ्गलकी बधाइयाँ होने लगीं। राज्यभरमें धूम मच गयी। राजाकी

सारी जीवनचर्या पलट गयी। साधुसङ्ग और प्रजापालनमें ही उनका सारा समय बीतने लगा। प्रजामें उनको नारायणबुद्धि हो गयी और उनकी सेवामें राजाको बड़ा सुख मिलने लगा। संतोंके समागमका यही शुभ परिणाम होता है—उनकी कृपासे जब अन्तर्दृष्टि खुलती है तो सारा नक्शा ही बदल जाता है।

मुरारीदास यहाँ भी अपने गाँववाले टूटे मन्दिरकी सीढ़ियोंपर ही दिन-रात व्यतीत करते। बराबर भीड़ लगी रहती दर्शनार्थियोंकी। वे सबसे यही कहते—'मेरे दर्शनमें क्या रक्खा है, दर्शन करो अपने हृदयके ही भीतर उस बहुरूपिया हरिका। वे बड़े ही दयालु हैं—सबपर दया करते हैं और अवश्यमेव करते हैं—आवश्यकता है, बस, हृदय खोलनेकी! हृदयके भीतर ही तो हरि छिपे हैं—उन्हें खोजो, उन्हें पकड़ो, उन्हें पहचानो।' इतना कहकर वे झर-झर रोने लगते।

एक दिन प्रातःकाल लोगोंने देखा—मुरारीदासकी कंथा और करवा वहीं मन्दिरकी सीढ़ियोंपर पड़े हुए हैं, परन्तु मुरारीदास अब वहाँ नहीं हैं। लोगोंने बहुत खोजा—ढूँढ़ा, परन्तु कहीं कोई उस पागलका पता न चला। लोगोंने सोचा—चला गया होगा वह साँवरेके देश!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त हरिदासजी

लगभग दो सौ वर्षकी बात है। श्रीवृन्दावनमें यमुनातटपर मनोरम स्थलोमें रामानन्दी वैष्णव महात्मा श्रीहरिदासजी महाराज अपने शिष्योंके साथ निवास करते थे। उस पुण्यभूमिकी शोभा विचित्र थी। मालती-माधवी आदि लताओंकी अनुपम सुगन्धित समीर बहा करती थी। प्रफुल्लित पुष्पोंपर भ्रमरोंके झुंड अपनी झंकारसे कुञ्जोंको मुखरित करते थे। कोयलोंकी कूक तथा तोते आदि पक्षियोंका कलरव सांसारिक प्रपञ्चोंसे मलिन मानसको निर्मल बना देते थे। मयूरोंका नृत्य भक्तों-को घनश्यामके प्रेममें नृत्य करनेके लिये उत्साहित करता था।

महात्मा हरिदासजी महाराज तेजस्वी तपस्वी थे। उनके हृदयमें भगवत्प्रेमकी सरिता बहा करती थी। यदि किसी महान् तपस्वीके हृदयमें प्रेमामृत प्रवाहित होता है तो स्वर्णमें सुगन्धके सदृश सुशोभित होता है। महात्माजीको अलौकिक प्रेम प्राप्त था। हृदयमें केवल प्राणाधारके दर्शनोंकी ही प्रबल वासना थी। उठते-बैठते, सोते-जागते भगवान्‌के विरहमें प्रेमाश्रु बहाया करते थे। उत्कट उत्कण्ठाने बढ़ते-बढ़ते विशाल स्वरूप धारण कर लिया था। रात्रिमें जागरण करके भगवद्दर्शनोंकी प्रतीक्षा करते हुए वे भगवान्‌से प्रार्थना किया करते थे।

एक दिन महात्माजी विरहातुर बैठे हुए थे। चाँदनी रात थी। सामने कालिन्दीकी तरङ्गें चन्द्रकिरणोंसे खेल रही थीं। बालुका चमचमा रही थी। चारों ओर प्रशान्त वायुमण्डल था। महात्माजीके हृदयमें सहसा दैन्यभावका स्फुरण हुआ। वे सोचने लगे कि "अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी, ब्रह्मादि देवशिरोमणियोंको नचाने-

वाली मायाके स्वामी, परिपूर्ण ब्रह्म जगदीश्वरका दर्शन मुझ महापतित क्षुद्र प्राणीको किस प्रकार हो सकेगा ? हे दयामय ! मैं आपके योग्य नहीं !' उनके हृदयमें दीनताका मानो सागर ही उमड़ पड़ा। उस महासमुद्रमें महात्माजी डूब गये। विरहमें विह्वल होकर उन्होंने अपना सर्वस्व प्यारेको समर्पण कर दिया। दीनवत्सल, प्रेमसिन्धु, करुणानिधान भगवान् भी भक्तका विरह नहीं सह सके और तत्क्षण प्रकट हो गये। महात्माजी निर्निमेष नेत्रोंसे उनका दर्शन करने लगे।

मनोहर मुसकानयुक्त मुखारविन्दपर घुँघराले केश छिटक रहे थे। मणियोंसे मण्डित मुकुट दिव्य वर्णके पुष्पोंसे सुशोभित था। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे थे। नेत्रोंमें मनोहारिणी चितवन थी। पीताम्बर श्यामल सुकुमार अङ्गोंपर झलक रहा था। वनमाला चरणों-तक लटक रही थी। महात्माजी इस रूपमाधुरीमें निमग्न हो गये। भगवान्‌ने चेत कराया। अपना करकमल मस्तकपर फेर दिया। महात्माजीने चरणोंपर मस्तक रख दिया। भगवान् अमृतमयी वाणीसे बोले—'तुम जगन्नाथपुरी जाओ! इस वर्ष आषाढ़में विग्रह-परिवर्तन होगा। पहला विग्रह तुम ले जाओ और इसी स्थलपर वृन्दावनमें स्थापित करो। मैं सब प्रकारसे तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

आज्ञा देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। महात्माजी वियोगसे व्याकुल होकर छटपटाने लगे। भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण करके महात्माजीने धैर्य धारण किया और अपने सुयोग्य शिष्योंको साथ लेकर कीर्तन करते हुए जगन्नाथपुरीको ओर चल दिये। बीहड़ वन, सर-सरिताएँ, पर्वत तथा कण्टकाकीर्ण मार्गको तय करते हुए चार महीनेमें महात्माजी जगन्नाथपुरी पहुँचे। मार्गका घोर परिश्रम पुरीमें पदार्पण करते ही दूर हो गया और हृदयमें दिव्य आनन्द भर गया।

श्रीजगन्नाथधाम जिसने नहीं देखा, उसने क्या देखा? भगवान्‌ने अपना अचिन्त्य, अनन्त ऐश्वर्यसागर वहाँ प्रवाहित किया है। अब भी आषाढ़में जिस समय वहाँ रथयात्रा होती है, महाविशाल तीन रथ चलते-चलते जब ठहर जाते हैं, तो सहस्रों मनुष्योंका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। तदनन्तर भक्तोंकी प्रार्थनासे जब वे स्वतः ही वेगके साथ चलते हैं, उस समय महान् आश्चर्य होता है। रथयात्राके समय लाखों नर-नारी एकत्रित होते हैं। प्रतिवर्ष यह महोत्सव बड़ी धूमधामसे सम्पन्न होता है। रथयात्राका महोत्सव तो था ही, दूसरे विग्रह-परिवर्तनका भी योग था। छत्तीस वर्षके पश्चात् जब दो आषाढ़ आते हैं, तब श्रीजगन्नाथजीके कलेवर बदले जाते हैं। बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है। यज्ञ होता है, वेदपाठ होता है और नाना प्रकारसे अभिषेक किया जाता है। इस प्रकार यह महोत्सवमें भी महोत्सव था। इस समय जगन्नाथपुरीमें करोड़ों यात्री दूर-दूर देशोंसे आये हुए हैं। आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है।

इसी समय हमारे चरित्रनायक महात्माजी भी वहाँ आ पहुँचे। अभिषेक होनेमें चार दिन शेष थे। महात्माजीने पुजारियोंके पास जाकर अपना परिचय दिया और भगवान्‌की आज्ञा उन्हें कह सुनायी। पुजारियोंने कहा—'हमको कुछ भी अधिकार नहीं है। आप राजा साहबसे मिलें।' श्रीमहात्माजी राजा साहबसे मिलने गये। राजा साहबने महात्माजीका तेजोमय मुखमण्डल देखकर उन्हें उठकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रसन्न मनसे परिचय पूछकर आनेका कारण पूछा। महात्माजीने भगवान्‌की आज्ञा सुना दी।

राजा साहबने कहा—'महाराज ! सर्वदासे यही नियम चला आया है कि प्रथम विग्रह समुद्रमें प्रवाहित कर दिये जाते हैं। आज हम नयी प्रणाली कैसे चला सकते हैं ? महाराज ! हम इस कार्यके लिये असमर्थ हैं। आपको भगवान्‌की आज्ञा हुई होगी, किन्तु हमको तो भगवान्‌की आज्ञा नहीं हुई। अतएव क्षमा करें।'

महात्माजी—'राजन् ! यदि विग्रह सागरमें प्रवाहित होंगे तो मेरा शरीर भी सागरमें प्रवाहित होगा; क्योंकि मैं अपनी इच्छासे नहीं आया हूँ।' राजा साहबने कुछ उत्तर नहीं दिया। महात्माजी समुद्रतटपर आकर प्रशान्त मनसे भगवान्‌का ध्यान करने लगे। अन्न-जल त्यागकर एकाग्रचित्तसे उसी भुवनमोहन रूपका स्मरण करने लगे, जिस रूपका वे प्रथम दर्शन कर चुके थे।

अर्धरात्रिका समय है। राजा साहब शयन कर रहे हैं। राजा साहबने देखा, श्रीजगन्नाथजी प्रकट हुए। उनके मुखारविन्दपर कुछ क्रोध झलक रहा है। मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले—'वे महात्माजी मेरी आज्ञासे ही आये हैं। तुम भक्तोंका तिरस्कार करते हो ! जाओ, उनसे क्षमा माँगो और उनकी आज्ञाका पालन करो। मेरा एक विग्रह अब वृन्दावनमें भी रहेगा।'

राजा साहब अत्यन्त भयभीत हो गये और जाग पड़े। थर-थर काँपते हुए शय्यासे उठकर कर्मचारियोंको उन महात्माजीका पता लगानेके लिये रात्रिमें ही आज्ञा दी। बहुत ढूँढ़-खोजके अनन्तर पता लग गया। राजा साहब समुद्रतटपर उसी समय जाकर महात्मा-जीके चरणोंमें गिर पड़े और बारंबार क्षमा-याचना करने लगे।

प्रातःकाल धूमधामसे राजा साहबने महात्माजीका पूजन किया। जगन्नाथपुरीमें यह समाचार बिजलीकी भाँति चारों ओर फैल गया। महात्माजीके दर्शनार्थ दौड़कर लोग आने लगे। उस समय महोत्सव-में एक अपूर्व आनन्दोल्लास छा गया।

अभिषेकके अनन्तर राजा साहबने एक विशाल रथमें श्रीजगन्नाथ-जी, श्रीबलदाऊजी, श्रीसुभद्राजीको विराजमान कराया। धन-धान्य तथा सेनाके साथ महात्माजीको विदा किया। रथके सहित धूमधाम-से कीर्तन करते हुए महात्माजीने कई महीनोंमें वृन्दावनमें पदार्पण किया। जिस स्थानपर स्वयं भजन करते थे उसी सुरम्य स्थानपर एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर महात्माजीने विग्रह स्थापित किये। वृन्दावनमें वही दिव्य स्थान, वही दिव्य विग्रह, वही सुन्दर मन्दिर आज भी वर्तमान है। सामने यमुनाजी बह रही हैं। नीचे घाट बना हुआ है, जिसे 'जगन्नाथ घाट' कहते हैं। आज भी इस स्थान-पर अपूर्व दिव्यता विराज रही है। भजनमें स्वाभाविक मन लगता है। शान्तिका साम्राज्य-सा छाया हुआ है।

वृन्दावनमें श्रीजगन्नाथजी भक्तोंको आज भी दिव्य अनुभव, दिव्य चमत्कार दिखाया करते हैं। अभी तीन वर्ष पूर्व वृद्धा माता श्रीरामजी देवी श्रीजगन्नाथजीकी सेवा करती थीं। उनका दर्शन जिन्होंने किया है, वे जानते हैं कि माताजी कैसी तपस्विनी, तेजस्विनी और प्रेमकी मूर्ति थीं। उनको कई बार भगवान्‌के दर्शन हुए थे। निरन्तर उनको भगवान्‌की सेवामें ही सुख प्राप्त होता था। उनके समयकी कुछ सच्ची घटनाएँ हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) एक बार माताजी भगवान्‌को पुष्प और तुलसी चढ़ा रही थीं। सहसा श्रीजगन्नाथजीका विग्रह तेजोमय हो गया और

विग्रहसे श्वासोच्छ्वास होता हुआ दिखायी दिया। भगवान्‌के श्वासकी वायु स्पर्श करके वे घबड़ा गयीं तथा मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। आध घंटेके पश्चात् उनको बाह्य ज्ञान हुआ। यह घटना लगभग ग्यारह वर्ष पहलेकी है।

(२) एक बार माताजी हरिद्वार गयी हुई थीं। मन्दिरमें पुजारीने भोग लगाया। माताजी उस समय हरिद्वारमें ध्यान कर रही थी। ध्यानमें जगन्नाथजी प्रकट हुए और वह थाल सम्मुख दिखाकर बोले—'आज भोजन मैंने नहीं पाया है। आज अमुक त्रुटि रह गयी है।' माताजीको व्याकुलता हुई और उन्होंने तत्क्षण पुजारीजीको पत्र लिखा। उस दिन जो-जो पदार्थ भोगमें लगाये गये थे, वे लिखे और त्रुटि भी लिख भेजी। उस पत्रकी यहाँ सब बातें सत्य पाकर सभीको महान् आश्चर्य हुआ। उस दिनसे सेवामें अत्यन्त सावधानी रक्खी जाने लगी। यह घटना लगभग छः वर्ष पूर्वकी है।

(३) एक बार मन्दिरमें भण्डारा हो रहा था। एक बड़े पात्रमें यमुनाजीसे जल आया और उसी पात्रमें दाल चढ़ा दी गयी। अच्छी प्रकार जब दाल बन गयी तो पात्र सहसा उलट पड़ा और उसमेंसे एक जीवित मछली निकली। वह छोटी-सी मछली जलती हुई दालमें कैसे जीवित रही? यह अद्भुत घटना लगभग बीस वर्ष पहलेको है।

(४) मन्दिरके पास एक कुआँ बना हुआ है। उस कुएँमें लगभग बीस हाथ जल भरा हुआ था। एक यात्री जल भरने गया, वह अकस्मात् जल भरते हुए गिर पड़ा। उसने जगन्नाथजीका ध्यान किया। ध्यान करते ही उसे एक प्रकाश दिखायी दिया और कुएँमें जल एक हाथ ही रह गया। वह आनन्दसे कुएँमें खड़ा हो गया। उसे निकाला गया तो वह हँस रहा था, चोटका नामोनिशान भी

न था। उसके निकलते ही पुनः जलमें बीस हाथ जल हो गया। यह घटना लगभग पच्चीस वर्ष पहलेकी है।

(५) एक बार मन्दिरमें एक अत्यन्त मनोहर छड़ी मिली। उसकी चमक विलक्षण थी। वह न लोहेकी प्रतीत होती थी, न काठकी, न पीतलकी। वह दिव्य ही थी। उसको पाकर उसकी पूजा होने लगी। जिस दिनसे वह आयी, उसी दिनसे मन्दिरमें आनन्दकी लहर-सी आने लगी। भक्तोंको दिव्य अनुभव होने लगे। धन-धान्यसे भी आश्रम परिपूर्ण हो गया। एक दिन माताजीने उसका यमुनातटपर पूजन किया। पूजनके अनन्तर जिस समय उसे रक्खा, उसी समय वह छड़ी जैसे मनुष्य चलता है, इस प्रकार जाकर यमुनामें विलीन हो गयी। यह घटना लगभग पंद्रह वर्ष पहलेकी है।

(६) एक बार आषाढ़में रथयात्राके दिन सन्ध्यासमय आरती होनेवाली थी। अँधियारा हो चुका था। उसी समय यमुनातटकी ओरसे एक सुकुमार साँवला बालक आया। उसके कपोलोंपर बाल बिखर रहे थे। उसका सौन्दर्य देखकर माताजीने पूछा—'भैया! तुम कहाँ रहते हो?' बालकने मुसकराकर कहा—'यमुनाकिनारे।' माताजीने फिर पूछा—'तुम्हारे पिताका क्या नाम है।' बालकने हँसकर बात टाल दी। पुजारी मन्दिरमें था, माताजीने पुजारीसे कहा—'प्रसाद लाकर इनको दीजिये।' जिस समय पुजारी प्रसाद लाया, उसी क्षण वह बालक अन्तर्धान हो गया। ये सब घटनाएँ जिन्होंने आँखोंसे देखी हैं, वे भक्तगण अब भी वृन्दावनमें विद्यमान हैं। यह घटना लगभग सोलह वर्ष पूर्वकी है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भक्त भुवनसिंह चौहान

ठाकुर भुवनसिंह चौहान जातिके राजपूत थे। महाराना उदयपुरके दरबारी थे। सालाना दो लाखका पट्टा था। ये अपनी वीरताके लिये प्रसिद्ध थे। उदयपुरके सामन्तोंमें इनकी बड़ी धाक थी। इतना होनेपर भी ये थे परम वैष्णव। श्रीकृष्णकी भक्तिसे इनका हृदय भरा था। प्रातःकाल सूर्योदयसे बहुत पहले शय्या त्यागकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो ये भगवद्भजनमें लग जाते और दिनके ग्यारह बजेतक अनन्यचित्तसे भगवत्-सेवनमें संलग्न रहते। दुपहरको दरबारमें जाते; रातको फिर भगवद्भजनके लिये बैठ जाते। भुवनसिंह-जी भजनानन्दी तो थे ही, आपके आचरण भी बड़े ही पवित्र थे। सत्य, दया, प्रेम, उदारता आदि सद्गुण आपमें भरे थे।

राजाओंमें शिकारका व्यसन होता है। यह राजधर्म न होनेपर भी कई राजा इसे राजधर्म मान बैठते हैं और गरीब पशु-पक्षियोंको बड़ी नृशंसताके साथ हत्या करके अपनेको गौरवान्वित समझते हैं। महारानाको भी शिकारका व्यसन था। एक दिन अपने सब सामन्तोंको साथ लेकर महाराना शिकारको निकले। बहुत-से पशुओंका शिकार किया गया। महारानाने एक बहुत सुन्दर हरिनी-को दौड़ते देखा। शिकारीका मन अन्ततः शिकारके समय दयाशून्य हो जाता है। रानाने उसे मारनेके लिये घोड़ा पीछे दौड़ाया; परन्तु वह भागकर कहीं छिप गयी। चौहान भुवनसिंह महारानाके साथ थे। महारानाको थके देखकर और उनका इशारा पाकर भुवनसिंह उस हरिनीकी खोजमें चले। कुछ दूर जाकर देखा—हरिनी दौड़ते-

दौड़ते थककर एक पेड़की आड़में छिपी खड़ी है, डरके मारे उसका बदन काँप रहा है, जीवनसे निराश-सी होकर वह बड़े ही करुणा-पूर्ण नेत्रोंसे मानो जीवनभिक्षा माँग रही है। परन्तु भुवनसिंहको उसकी इस स्थितिको समझनेके लिये अवकाश कहाँ था? वे तो उस समय शिकारके नशेमें पागल थे। तत्काल ही उन्होंने अपनी विषैली तलवार निकाली और लपककर चट हरिनीके दो टुकड़े कर डाले। मृगी कटकर गिर पड़ी, साथ ही उसके पेटका बच्चा भी कट गया। क्षणमात्रमें वह अपने बच्चेके साथ ही परलोकको सिधार गयी। मरते समय उसने बड़े ही करुण नेत्रोंसे भुवनसिंहकी ओर देखा था। भुवनसिंहको उसकी दृष्टिमें करुणाके साथ ही ईश्वरीय कोप दिखायी दिया, उनका कलेजा काँप गया। उनको अपने इस कुकृत्यपर बड़ी घृणा हुई। वे मन-ही-मन अपनेको धिक्कारते हुए कहने लगे—'क्या इस प्रकार दयाके योग्य निर्बल मूक पशुओंको मारना ही क्षत्रियधर्म है? क्या इसीमें राजपूतोंकी शान है? इस बेचारी निरीह गर्भवती हरिनीने मेरा क्या बिगाड़ा था, जो मैंने राक्षसकी तरह इसे काट डाला। धिक्कार है ऐसी जीवघातिनी शूरताको! अरे, इतना निर्दय होकर भी मैं भगवद्भक्त हूँ! जो इस प्रकार भगवान्‌के पैदा किये हुए गरीब जीवोंको मारता है, उसे क्या अधिकार है भगवान्‌की भक्ति करनेका और अपनेको भक्त समझनेका। उसकी भक्ति तो ढोंगमात्र है। हाय! मैंने बड़ा पाप किया। दयालु भगवन्! इस अधमको अपनाओ—अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूँगा। इस प्रकार आत्मग्लानियुक्त प्रार्थना करते-करते भुवनसिंहने मन-ही-मन प्रण कर लिया कि आजसे मैं लोहेकी तलवार ही नहीं रक्खूँगा, काठकी तलवार रक्खूँगा, जिससे किसी भी जीवकी हत्या नहीं हो सकेगी।

शिकारसे सब लोग लौट आये। भुवनसिंहने अपने निश्चयके अनुसार काठकी तलवार बनवा ली। किसी सूत्रसे इस बातका एक सामन्तको पता लग गया। वह भुवनसिंहजीकी ख्याति और प्रतिष्ठासे जलता था। उसने इसको अपनी जलन बुझानेका बड़ा सुन्दर साधन समझा और मौका देखकर महारानासे कह दिया। महारानाको भुवनसिंहकी वीरताका बड़ा विश्वास था। उन्होंने सामन्तकी बात नहीं मानी। सामन्तको बड़ी निराशा हुई, उसने एक दिन छिपकर भुवनसिंहकी तलवार म्यानसे निकालकर देखी। तलवार काठकी थी ही। अब तो उसको अपनी बातका पक्का निश्चय हो गया। उसने फिर जाकर महारानासे कहा, परन्तु महारानाको उसकी बातपर विश्वास होता भी नहीं था। यों एक साल बीत गया। तब उसने एक दिन एकान्तमें महारानासे कहा—'मैंने इतनी बार आपसे प्रार्थना की; परन्तु आप मेरी सच्ची बातपर ध्यान ही नहीं देते। एक बार म्यानसे निकलवाकर देख तो लीजिये। यदि मेरी बात झूठ हो तो आप उसी क्षण मेरा सिर उतरवा लीजिये।' महारानाने सोचा, 'यह इतने जोरसे कहता है तो एक बार तलवार देखनी तो चाहिये परन्तु देखी जाय कैसे? मैं यदि अपना सन्देह प्रकट करके उनकी तलवार देखना चाहूँ और यदि तलवार काठकी न निकली तो फिर क्या उत्तर दूँगा? फिर किसी एकके कहनेसे ही भुवनसिंह-सरीखे सम्भ्रान्त पुरुषका यों अपमान करना भी तो अनुचित है। सम्भव है, यह उनसे द्वेष रखता हो और द्वेषवश ही उनको अपमानित करनेके लिये ऐसा कह रहा हो।' अन्तमें रानाके मनमें एक युक्ति आ गयी। उन्होंने एक दिन उपवनके समीप एक सुन्दर तालाबके तीरपर गोठ (भोज) का आयोजन किया। सभी दरबारी सामन्त

बुलाये गये। भोजके पश्चात् रानाने बातों-ही-बातोंमें कहा, 'देखें, किसकी तलवार अधिक चमकती है'—यों कहकर रानाने सबसे पहले अपनी तलवार म्यानसे निकालकर दिखायी। अब तो एक-एकके बाद सभी अपनी-अपनी तलवार म्यानसे निकालकर दिखाने लगे। भुवनसिंह उच्च श्रेणीके सामन्त थे, उनको पहले ही तलवार निकालकर दिखानी चाहिये थी; परन्तु वे चुपचाप बैठे थे। इससे रानाके मनमें भी कुछ सन्देह पदा हो गया। रानाने कहा, 'भुवनसिंहजी! आप चुप कैसे बैठे हैं, आप भी अपनी तलवार निकालिये।' इसके उत्तरमें भगवद्विश्वासी भुवनसिंहजी यह कहना ही चाहते थे कि 'मेरी तलवार तो दार (काठ) की है, मैं क्या दिखलाऊँ' परन्तु भगवान्‌की न मालूम किस अव्यक्त प्रेरणासे उनके मुखसे 'दार' (काठ) की जगह 'सार' (असली लोहा) निकल गया। इतना कहते ही भुवनसिंहने मानो बरबस तलवार म्यानसे खींच ली। भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं, वे अपने भक्तके मुखसे निकले हुए वाक्यको सत्य करनेके साथ ही उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ाना चाहते हैं। तलवार म्यानसे बाहर निकालते ही बिजली-सी चमकी। सबके नेत्र चौंधिया गये। उसकी ऐसी चमक देखकर सभी लोग चकित हो गये। भुवनसिंह स्वयं आश्चर्यमें डूब गये; परन्तु दूसरे ही क्षण उनकी समझमें आ गया कि यह सारी मेरे स्वामीकी लीला है। चुगली खानेवाले सामन्तका सिर नीचा हो गया, उसकी ऐसी दशा हो गयी कि काटो तो खून नहीं। रानाका चेहरा क्रोधसे तमतमा उठा। रानाने गर्जकर कहा—'क्यों जी, भुवनसिंहजीपर झूठा आरोप करते आपको लज्जा नहीं आयी। अब तैयार हो जाइये, सिर उतरवानेके लिये।' यों कहकर महारानाने उस सामन्तका सिर उतारनेकी आज्ञा दे दी।

भुवनसिंहजी चुपचाप सब सुन रहे थे, अब उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने खड़े होकर और सिर नवाकर महारानासे कहा—'अन्नदाता! सामन्तका सिर न उतरवाया जाय। इन्होंने सत्य कहा था। मेरी तलवार काठकी ही थी। उस दिन गर्भिणी हरिनोको मारनेपर मेरे मनमें अपनी वैसी शूरताके प्रति घृणा हो गयी थी और मैंने तभीस लोहेकी तलवारका त्याग कर दिया था। यह तो मेरे भगवान् श्रीश्यामसुन्दरकी लीला है जो उन्होंने मेरी लाज रखनेके लिये अकस्मात् काठको लोहेके रूपमें परिवर्तित कर दिया।'

महाराना उनकी बात सुनकर चकित हो गये। भगवान्की भक्तवत्सलता देखकर उन्हें रोमाञ्च हो आया। राजाने सामन्तको छोड़नेकी आज्ञा देकर कहा—'भुवनसिंहजी! आज मैं आप-सरीखे भक्तके दर्शन करके कृतार्थ हो गया। दर्शन तो रोज ही करता था परन्तु आपका महत्त्व मैंने आज जाना। अब आपको मेरे दरबारमें नहीं आना पड़ेगा। अब तो आप उन महान् राजराजेश्वरके दरबारमें हाजिरी दीजिये। मैं खुद ही आपके चरणोंमें हाजिर हुआ करूँगा। आप धन्य हैं। आजसे आपकी जागीर दोके बदले चार लाखकी हुई।'

भुवनसिंहजीने कहा—'महाराज! मुझे दूनी जागीर नहीं चाहिये। आप भी कृपा करके अब शिकार खेलना छोड़ दीजिये और श्रीभगवान्का स्मरण कीजिये। आपने मुझे दरबारसे अलग करके बड़ी ही कृपा की है। मैं सदा आपका कृतज्ञ रहूँगा।'

गोठमें उपस्थित सभी सामन्त हर्षगद्गद हो गये। सबने एक स्वरसे भगवान् और भक्तका जय-जयकार किया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भक्त अङ्गदसिंह

बहुत पहलेकी बात है, भारतवर्षकी पुण्यभूमिमें सैनगढ़ नामकी एक राजधानी थी। वहाँपर दीनसलाहसिंह नामके एक राजा राज्य करते थे। उनके भतीजेका नाम था अङ्गदसिंह, जो एक अत्यन्त सुन्दर, बलिष्ठ और पराक्रमी नवयुवक थे। इन गुणोंके कारण अङ्गदसिंहको राजा बड़े प्यारकी दृष्टिसे देखा करते थे और अङ्गदसिंह भी अपने चचाकी भलाईके लिये प्राणोंतककी बाजी लगानेको सदा तैयार रहा करते थे; परन्तु जहाँ अङ्गदसिंहमें इतने गुण विद्यमान थे, वहीं उनमें एक बड़ा भारी दोष भी था। वे बड़े ही विषयासक्त थे तथा अपना सारा समय खेल-तमाशे और आमोद-प्रमोदमें ही बिताना चाहते थे। दैवयोगसे उनका विवाह एक अत्यन्त सद्‌गुणवती, सुशीला, सती-साध्वी और हरिभक्तिपरायणा स्त्रीके साथ हो गया था। वह प्रतिक्षण अपने पतिदेवकी चित्त-वृत्तियोंको भगवदभिमुखी बनानेके लिये प्रयत्न करती रहती थी तथा पतिसेवाके अतिरिक्त उसे जो कुछ भी समय मिलता था, वह सब वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णकी पूजा तथा उनके गुणानुवादको सुनने-सुनानेमें ही व्यतीत होता था। इस प्रकार यद्यपि उन दोनों पति-पत्नीके विचारोंमें आकाश-पातालका अन्तर था तथापि पतिव्रता पत्नीकी सुशीलता एवं उसके सुमधुर स्वभावके कारण अङ्गदसिंहको कभी भी

उसपर रुष्ट होनेका मौका नहीं मिलता था; बल्कि वे उसकी प्रत्येक बातको बड़े आदर और सम्मानके साथ सुना करते थे।

संयोगवश एक दिन अङ्गदसिंह कहीं बाहर गये हुए थे। जब वे घर लौटे तब उन्होंने देखा कि आँगनमें एक फर्शपर सुन्दर सिंहासन बिछा हुआ है, उसपर उनके सितकेश, वृद्ध तपस्वी ऋषिकल्प गुरुदेव विराजमान हो रहे हैं और उनकी धर्मपत्नी अपने दोनों हाथोंको जोड़े हुए गुरुदेवके सामने बैठकर कौतूहल और प्रेमके साथ भगवत्कथा सुननेमें तल्लीन है। अङ्गदसिंहको इन सब बातोंमें रुचि तो थी ही नहीं, वे उस दृश्यको देखकर झल्ला उठे और गुरुदेवको बिना प्रणाम किये ही बक-झक करते हुए किसी दूसरे कमरेमें जा लगे। अपने शिष्यके इस अविनय एवं अनीतिपूर्ण व्यवहारको देखकर भी क्षमाशील और मानापमानको समान समझनेवाले गुरुदेवको कोई क्रोध तो नहीं आया; परन्तु उन्होंने सोचा कि इस प्रकार हरिकथाका अपमान नितान्त अनुचित है, इसलिये वे वहाँसे उठकर चल दिये। अङ्गदसिंहकी धर्मपत्नीने प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने एक भी नहीं सुनी, उसके कहनेपर रुकना उचित नहीं समझा। इसपर अङ्गदसिंहकी धर्मशीला पत्नीको बड़ा परिताप हुआ। वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। जब उसे कुछ होश आया, तब उसने अपने पतिदेवको सामने खड़े देखा। देखते ही वह उनके चरणोंसे लिपट गयी और आँसुओंकी अविरल धारा बहाते हुए उसने रुद्धकण्ठसे कहा—'प्राणनाथ! आज आपने क्या किया! गुरुदेवके अपमानसे बढ़कर इस जगत्में और

कोई जघन्य पापकर्म नहीं है। आपने गुरुदेवके रूपमें उस ललित लीलाधाम भगवान्‌का ही अपमान किया है, जो हम दोनोंके ही नहीं, समस्त विश्वके स्वामी हैं! उन्हींकी अपार दयासे हमें यह मनुष्य-देह मिली है। अतः जीवनधन! अपने इस भयानक अपराधके लिये हृदयमें पश्चात्ताप कीजिये और शीघ्र ही गुरुदेवके घर जाकर—उनके श्रीचरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके क्षमा माँगिये। और नाथ! आजके इस पापकर्मके प्रायश्चित्तस्वरूप यह प्रतिज्ञा कीजिये कि आजसे आपके द्वारा गुरुदेवका ही नहीं, किसी भी साधु-संतका अपमान नहीं होगा।

अङ्गदसिंहजी अपनी प्राणप्रिया पत्नीकी यह दशा देखकर पहलेसे ही अवाक् हो गये थे। उन्होंने उसके विनययुक्त आर्त अनुरोधको बड़े ध्यानके साथ सुना और सुनते ही उनकी विचारधारा बदल गयी। उन्हें अपने कुकृत्यपर बड़ा ही पश्चात्ताप होने लगा। अन्तमें उन्होंने अपनी धर्मशीला पत्नीको उठाया और उसे आश्वासन देते हुए बड़े प्रेमके साथ कहा—'प्रिये! क्षमा करो! अब मेरी आँखें खुल गयी हैं, अब मुझसे ऐसा अपराध कभी नहीं होगा। मैं अभी जाकर गुरुदेवसे क्षमा-भिक्षा माँग आता हूँ और तुम्हारे सामने शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे मेरा समय साधु-संतोंकी सेवामें ही बीतेगा।' अङ्गदसिंहके इस अनुकूल वचनको सुनकर उनकी स्त्रीको बड़ी प्रसन्नता हुई! वह मन-ही मन भगवान्‌की इस अपार अनुकम्पाके लिये कृतज्ञता प्रकाश करने लगी। अङ्गदसिंह गुरुदेवके घर गये और उनको प्रसन्न करके घर ले आये। वे तो

पहले भी प्रसन्न थे। अङ्गदसिंहका मन बदलनेके लिये वे कृपापूर्ण कोप करके चले गये थे। अङ्गदसिंहकी स्त्रीके आनन्दका अब पार नहीं रहा। वह जिस बातके लिये प्रतिपल भगवान्‌से प्रार्थना किया करती थी; वही सब प्रकारसे पूर्ण हो गयी। उसने अपनी तरसती हुई आँखोंसे देखा कि उसके प्राणनाथ अब उसके साथ ही अपना सारा समय गुरुदेव अथवा अन्य समागत साधु-महात्माओंकी सेवा एवं सत्सङ्ग तथा भगवान्‌के चिन्तनमें व्यतीत करने लगे। फलतः उनकी बुद्धि भी गङ्गाजलके समान विमल और विवेकशीला बन गयी। यहाँतक कि वे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनार्थ उसी प्रकार व्याकुल हो उठे, जैसे प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतुका एक थका और प्यासा पथिक केवल घूँटभर पानीके लिये बेचैन हो उठता है।

किन्तु भगवान् भी तो बड़े लीलामय हैं। वे अपने भक्तोंको पहले परीक्षाग्निमें खूब तपा लेनेके बाद तब कहीं अपना दर्शन देते हैं। अतः कुछ कालके बाद अङ्गदसिंहके भगवत्प्रेमकी परीक्षाका समय आया। तत्कालीन सम्राट्‌ने उनके चचा राजा दीनसलाहसिंह-पर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दे दी। सम्राट्‌का एक सूबेदार अपनी फौजके साथ सैनगढ़पर चढ़ आया। इस समाचारको पाते ही दीनसलाहसिंहके होश उड़ गये। उन्होंने वीरवर अङ्गदसिंहको बुलाकर कहा—'बेटा! आज सैनगढ़के सम्मानकी रक्षाका भार तुम्हारे ही हाथोंमें है।' इस बातको सुनकर अङ्गदसिंहकी भुजाएँ फड़क उठीं। उन्होंने चचाके चरणोंमें प्रणाम किया और अपनी वीरोक्तिद्वारा चचाके हृदयमें ढाढ़स बँधाकर वे अपने चुने हुए
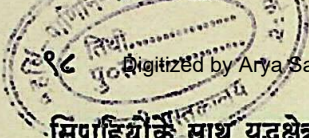
सिपाहियोंके साथ युद्धक्षेत्रमें आ डटे। वहाँ बड़ी घमासान लड़ाई हुई, दोनों ओरके अनेकों सैनिक हताहत हुए; परन्तु अन्तमें विजय रही वीरकेसरी अङ्गदसिंहकी। उन्होंने अपनी तलवारसे सूबेदारका सिर काट लिया। सिर काटते ही उनके हाथमें सूबेदारका मुकुट आ गया। उसमें उन्होंने देखा कि अनेकों बहुमूल्य हीरे जड़े हुए थे। उनमें एक अनमोल हीरा भी था। उसको देखते ही अङ्गदसिंहने निकाल लिया और उसे हाथमें लेकर सोचा कि यह अनमोल हीरा तो भगवान् श्रीजगन्नाथके ही रत्नहारमें शोभा पाने योग्य है! तत्पश्चात् वे अपने बचे हुए बहादुर सिपाहियोंके साथ घर लौटे, सूबेदारका मुकुट राजाके हवाले किया, किन्तु उन्होंने उस अनमोल हीरेको भगवान् जगन्नाथजीके लिये अपने पास रख लिया। कुछ समयके पश्चात् इस बातकी खबर किसी प्रकार राजाको लग गयी। वे उस हीरेकी अत्यधिक प्रशंसा सुनकर लोभमें पड़ गये। फिर क्या था? उनकी मति मारी गयी, उन्हें अङ्गदसिंहका यह व्यवहार बिल्कुल ही पसंद नहीं आया। उन्होंने अङ्गदसिंहको बुला भेजा और कहा कि 'तुम्हें उस हीरेको अपने पास रखनेका कोई अधिकार नहीं है। तुम उसे अभी मेरे सिपुर्द कर दो।' इसपर अङ्गदसिंहने सिर हिलाकर उत्तर दिया—'चचाजी! उस जवाहरको मैं किसी प्रकार आपको नहीं दे सकता। उसके योग्य आप बिल्कुल नहीं हैं। उसको तो मैं भगवान् जगन्नाथजीके सुभग और सुन्दर रत्नहारमें ही गुँथवाऊँगा।' यह सुनना था कि दीनसलाहसिंहकी त्यौरी बदल गयी। वे क्रोधसे तमतमा उठे। उन्होंने बड़े कड़े स्वरमें कहा—'ऐसी धृष्टता! यदि तुमने उस हीरेको मेरे हवाले नहीं कर दिया और मेरी इस अवज्ञाके

लिये तुमने मुझसे माफी नहीं माँगी तो मैं जल्दी ही इसका मजा तुम्हें चखाऊँगा।' अङ्गदसिंहने इसका उत्तर विनयपूर्वक किन्तु दृढ़भावसे दिया। उन्होंने कहा—'आपकी जैसी इच्छा! परन्तु उस हीरेको तो जीते-जी मैं आपको नहीं दे सकता। वह तो जिसकी वस्तु है, उसे समर्पित की जा चुकी है। अब उसपर मेरा कोई अधिकार नहीं है।' यह कहकर अङ्गदसिंह लापरवाहीके साथ वहाँसे उठ गये। राजा दीनसलाहसिंह भला उस पराक्रमशील तेजस्वी नवयुवकका क्या कर सकते थे। वे अपना-सा मुँह लेकर ताकते रह गये।

इसके बाद राजा दीनसलाहसिंहने सोचा कि बिना किसी छल-छद्मका सहारा लिये अङ्गदसिंहके समर्थ हाथोंसे उस जवाहरकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, असम्भव मालूम होती है! निदान उन्होंने प्रलोभन देकर अङ्गदसिंहकी बहिनको फोड़ लिया। उन्होंने उससे कहा कि 'यदि तुम अङ्गदसिंहके भोजनमें विष देकर उसे मार डालोगी तो मैं तुमको चार गाँवोंकी स्वामिनी बना दूँगा। बोलो क्या तुम्हें मंजूर है? लेकिन याद रखना, यदि तुमने 'ना' किया तो इसी तलवारसे तुम्हारा सिर भी अलग कर दिया जायगा।' इस भयानक प्रस्तावको सुनकर अङ्गदसिंहकी बहिन काँप गयी। उसने विनीत स्वरमें कहा—'हाय! हाय! जिसको मैं प्राणोंसे भी बढ़कर प्यार करती हूँ, अपने उसी सहोदर भाईको विष कैसे दे सकती हूँ। यह मुझसे न होगा।' परन्तु पीछे राजाके बहुत समझाने-बुझाने और तरह-तरहके भय-त्रास दिखानेपर वह मोहवश किसी प्रकार अपने भाई अङ्गदसिंहको विष देनेके लिये उतारू हो गयी। उसने एक

दिन अङ्गदसिंहके लिये अपने डबडबाये हुए नेत्रोंके साथ काँपते हुए हाथोंसे विषमय भोजन तैयार किया। अङ्गदसिंहजी अपनी प्यारी भगिनीके बनाये हुए भोजनको पानेके लिये बड़ी प्रीतिके साथ बैठे। सबसे पहले उन्होंने बड़े प्रेमके साथ अपने इष्टदेवको भोज्य पदार्थ-का भोग लगाया। तदनन्तर नित्य-नियमानुसार एक साथ भोजन करनेके लिये उन्होंने अपनी उस बहिनके लड़केको पुकारा। बहिन-का ध्यान तो कहीं और जगह गया नहीं था, उसने यह सुनते ही झटपट जवाब दिया—'भैया! तुम भोजन करो, वह कहीं बाहर गया हुआ है। पीछे आकर खा लेगा।' इस उत्तरसे अङ्गदसिंह सहसा उदास हो गये। वे अपने भांजेसे इतनी प्रीति रखते थे कि उनको उसका भोजनके समयका वह अल्पकालीन वियोग भी बुरा मालूम पड़ा। वे अन्यमनस्क हो गये और उनकी आँखोंसे प्रेमके अश्रुबिन्दु टपक पड़े। अपने पुत्रके प्रति भाईका इतना प्रगाढ़ और निर्मल प्रेम देखकर अङ्गदसिंहकी वह भगिनी फिर प्रकम्पित हो उठी। उसकी आत्माने उसको बार-बार धिक्कारा। उसने बड़ी फुर्तीसे काम लिया। ज्यों ही अङ्गदसिंह भोजनपर हाथ लगाना चाहते थे, त्यों ही उसने भोजनका थाल उनके सामनेसे खींच लिया और लेकर पागलकी भाँति दौड़ पड़ी। यह देखकर अङ्गदसिंहको बड़ा आश्चर्य हुआ! उन्होंने अपनी बहिनको सम्बोधित करके कहा—'अरी! यह क्या करती है? मुझे भोजन तो कर लेने दे!' इसपर बहिन रुक गयी। उसने थाल एक हाथमें लिये ही आँखोंमें आँसू भरकर तथा अपने मुँहको आँचलसे ढककर कहा—'भाई! यह विषमय भोजन है। पापी दीनसलाहसिंहके बहकानेपर मैंने

तुम्हें मार डालनेके उद्देश्यसे यह विषपूर्ण भोजन तैयार किया है। मुझे क्षमा करो। मैं अपराधिनी हूँ।' अङ्गदसिंहको इस बातसे कोई भय नहीं लगा, बल्कि उन्होंने स्वाभाविक ढंगसे अपनी बहिन-को कहा—'बहिन! तेरा कोई अपराध नहीं है, यह सब तो मेरे प्रभुकी लीला है, तेरे मनमें बुरा भाव होता तो तू मुझे अब भी क्यों कहती! मेरे भगवान् देखना चाहते हैं कि मैं विषके भयसे उनके समर्पित हुए प्रसादको त्याग तो नहीं देता हूँ। परन्तु भगवन्! मैं इस परीक्षामें आपके ही बलपर उत्तीर्ण होऊँगा।' इतना कहकर अङ्गदसिंहने कहा—'अरी पगली! थाल इधर ला। मैं हरिके प्रसाद-का अपमान कैसे कर सकता हूँ, अब वह प्रसाद विषमय नहीं रह गया है। अब तो यह अमृत है।' यह कहकर अङ्गदसिंहने बहिन-के हाथसे जबरदस्ती उस थालको छीन लिया और वे एक बंद कमरेमें बड़े चावसे उस सारे-के-सारे महाप्रसादको पा गये। उनकी बहिन उस बंद कमरेके किवाड़में हाथ पीट पीटकर रोती-चिल्लाती ही रह गयी। परन्तु इससे क्या, भगवान्की कृपासे उस विषमय भोजनका कोई असर अङ्गदसिंहके शरीरपर नहीं पड़ा। क्योंकि हरिप्रसाद हो जानेके बाद वह 'विषमय भोजन' रहा ही कहाँ? बल्कि उस महाप्रसादसे तो उल्टे अङ्गदसिंहके शरीरके रहे-सहे रोग भी सदाके लिये दूर हो गये।

इस घटनाके बाद अङ्गदसिंहने विचार किया कि अब सैनगढ़-में उनका रहना बिल्कुल ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँका राजा ही इतना लालची और भगवद्विमुख है, वहाँका वातावरण उनके लिये

कब हितकर हो सकता है! बस, उन्होंने पुरीमें हो जाकर भगवान् जगन्नाथजीको वह महार्घ हीरा समर्पित करनेका निश्चय कर लिया। अकस्मात् एक दिन वे अपने निश्चयानुसार घरसे निकल भी पड़े; किन्तु अभी वे घरसे दो-तीन कोससे अधिक नहीं गये होंगे कि राजा दीनसलाहसिंहके कानोंमें यह भनक पड़ गयी। उन्होंने तुरंत अपने सिपाहियोंको बुलवाया और आज्ञा दी कि 'चाहे जिस प्रकार हो, तुमलोग अङ्गदसिंहसे वह हीरा छीनकर अवश्य लाओ।' सिपाही यह सुनते ही अपने-अपने हथियारोंसे लैस होकर दौड़ पड़े। अङ्गदसिंहको भला इसकी क्या खबर थी? वे एक जगह डेरा डालकर भगवान्‌के ध्यानमें बैठे हुए थे। तबतक पता लगाते-लगाते दीनसलाह-सिंहकी फौज उनके पास पहुँच गयी। सिपाहियोंने अङ्गदसिंहको ललकारा और कहा कि 'यदि आप अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं तो उस हीरेको हमें दे दीजिये। नहीं तो उसके बदलेमें आपका सिर काटकर राजाके हवाले किया जायगा। उनकी यही आज्ञा है।'

अङ्गदसिंहने विवशता देखकर उस हीरेको हाथमें लिया और भगवान् जगन्नाथजीसे यह प्रार्थना की कि 'नाथ! मेरे जीते-जी यह हीरा राजा कैसे ले सकते हैं। इस समय और कोई वश न देखकर मैं यहींसे इस हीरेको आपकी सेवामें भेंट करता हूँ।' यह कहकर उन्होंने सामनेके एक गहरे जलाशयमें उस अनमोल हीरेको फेंक दिया। सिपाही यह देखकर अवाक् रह गये। उनके ऊपर अङ्गदसिंहजीके इस त्यागका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे उलटे पैर वहाँसे लौट गये और राजाके पास जाकर उन्होंने सब हाल कहा। राजा भी इस बातको सुनकर आश्चर्यचकित हो गये; किन्तु फिर भी

लोभने उनका पीछा नहीं छोड़ा। वे अपने सिपाहियोंका साथ लेकर उस तालाबके पास आये। उन्होंने तरह-तरहके उपायोंसे उस तालाबको छान डाला, परन्तु उस हीरेका कहीं पता नहीं चला। वह वहाँ हो तब न पता चले! अन्तमें लाचार और लज्जित होकर वे अपनी राजधानीको लौट गये।

इधर उसी रातको भगवान्‌ने स्वप्नमें अपने परमप्रिय भक्त अङ्गदसिंहजीसे कहा—'प्यारे अङ्गद! तुमने विवश होकर जिस अनमोल जवाहरको मेरे लिये उस गहरे जलाशयमें फेंका था, उसको मैंने इतनी दूरीसे ही स्वीकार कर लिया है। इस समय वह हीरा तुम्हारे इच्छानुसार मेरे रत्नहारमें सुशोभित हो रहा है। तुम जल्दी ही नीलाचलपर पहुँचो और मेरा प्रत्यक्ष दर्शन करके अपनी मनोकामना पूरी करो।' इस सुखमय और सुनहले स्वप्नसे जागनेके बाद अङ्गदसिंहजीकी प्रसन्नताका पारावार न रहा। वे बार-बार अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे। पुरी पहुँचनेमें उन्हें देर नहीं लगी। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भक्तभयहारी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन किये। उनकी भाग्यशीला आँखोंने प्रत्यक्ष देखा कि उनके पासका वह अनमोल जवाहर भगवान्‌के हृदयपर रत्नहारमें सुशोभित हो रहा है और भगवान् अपनी दिव्य मुसकराहटके साथ स्नेहपूर्ण नेत्रोंसे अङ्गदसिंहजीकी ओर देख रहे हैं। अङ्गदसिंहजीने भी आँखें फाड़-फाड़कर भगवान्‌की इस रूप-माधुरीका पान किया और षोडशोपचार-से उनकी पूजा तथा प्रार्थना की। इसके बाद तो पुरीके कण-कणमें उनकी इतनी ममता हो गयी कि उन्होंने सदा उसीकी पवित्र गोदमें

... विचार कर लिया । वहीं रहकर वे विद्याभ्यास तथा साधु-संतोंकी सेवा करने लगे और पिछली सारी घटनाओंको भूल-से गये ।

कुछ दिनोंके अनन्तर इन सारी बातोंका पता दीनसलाहसिंहको चल गया। फिर तो वे बड़े ही विस्मयमें पड़कर अपनी करनीपर लज्जित हो गये । उन्होंने सोचा कि मेरे ही कारण महात्मा अङ्गदसिंहको इतने कष्ट उठाने पड़े । अब उनकी कृपासे वञ्चित रहनेमें मेरा कल्याण कदापि नहीं है । यह सोचकर बहुत जल्दी ही दीनसलाहसिंहने पुरीकी यात्रा कर दी । पुरीमें पहुँचकर उन्होंने अङ्गदसिंहका पता लगाया और उनके पास स्वयं जाकर अपने सारे अपराधोंकी क्षमा माँगी । उन्होंने अङ्गदसिंहसे सैनगढ़ पधारनेके लिये भी प्रार्थना की । भक्तवर अङ्गदसिंहका दयार्द्र हृदय अपने चचाके इस प्रस्तावको टाल न सका । वे राजाके साथ सैनगढ़में पधार गये। फिर तो उनके पधारते ही सैनगढ़की स्थिति बदल गयी । वहाँ रामराज्य हो गया । राजा दीनसलाहसिंह भी उनके सत्संगसे भगवान्‌के परम भक्त बन गये । उन्होंने अपनेको और अपने सारे घरको भक्तराज अङ्गदसिंहके हवाले कर दिया और स्वयं साधु-संतोंकी सेवा तथा अपनी प्रजाको भगवान्‌का विविध विग्रह मानकर उनकी भलाईके कार्योंमें संलग्न रहने लगे । उनकी दिनचर्या ही बदल गयी ॥

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

मुद्रक—गौरीशंकर प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)